UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180978

UNIVERSAL
LIBRARY

तप्तगृह

(एक मनोवैज्ञानिक प्रबन्ध-काव्य)

श्रीकेदारनाथमिश्र 'प्रभात' एम० ए०

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड

पटना–४

मूल्य २।।)

मुद्रक
श्री मणिशंकर लाल
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना–४

निवेदन

तमसगृह की रचना की प्रेरणा मुझे इतिहास के सुविख्यात विद्वान डा० देवसहाय त्रिवेद से मिली। यह अगस्त १९५२ की बात है। एक दिन सन्ध्या समय हमलोग चाय पी रहे थे। साथ ही हिन्दी के महाकाव्यों की चर्चा भी चल रही थी। डा० त्रिवेद इतिहास के दृष्टिकोण से सामाजिक उत्क्रान्तियों की व्याख्या कर रहे थे और मैं मानव-संस्कृति की पृष्ठभूमि में दर्शन के तत्वों का विश्लेषण कर रहा था। इसी सिलसिले में हमलोगों ने इतिहास के करुणतम पृष्ठों को उलटना शुरू किया। डा० त्रिवेद ने बिम्बसार के अंतिम दिनों की चर्चा की जिससे मैं अत्यंत प्रभावित हुआ और एक प्रबन्ध-काव्य लिखने का उसी क्षण निश्चय कर लिया।

लगभग १५ दिनों तक लगातार मैं इस विषय पर मनन-चिन्तन करता रहा। पूरी जानकारी के लिए डा० त्रिवेद ने जो सामग्री दी उसके अतिरिक्त एक दर्जन से अधिक पुस्तकों को देख गया। ३ सितम्बर को एक सर्ग तैयार किया। यह सर्ग मुद्रित पुस्तक का पंचम सर्ग है और 'अवन्तिका' के दूसरे अंक में प्रकाशित हो चुका है।

आरम्भ में मैंने ५ सर्गों का एक छोटा-सा खण्ड-काव्य लिखने का विचार किया था। कथानक का निर्माण हुआ तो पूरे १८ सर्ग बन गये। परन्तु मैंने इस पुस्तक को इतिहास की घटनाओं से बोझिल बनाना उचित नहीं समझा और बिम्बसार की कथा के सबसे मार्मिक अंश को ही अपने प्रबन्ध का आधार बनाया।

प्रत्येक घटना की पृष्ठभूमि में मनुष्य का मस्तिष्क रहता है और प्रत्येक ऐसे मस्तिष्क का सम्बन्ध हृदय से भी होता है। मस्तिष्क और हृदय का अविनाभाव सम्बन्ध है। घटनाओं पर दोनों का स्वल्पाधिक प्रभाव पड़ता है। इतिहास-कारों ने बिम्बसार और अजातशत्रु की कथा के निर्माण में कल्पना से भी बहुत काम लिया है। अनेकानेक प्रश्नों का उत्तर 'संभव है, ऐसा हुआ हो' कहकर दे दिया है। मैंने कल्पना के साथ-साथ मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण का सहारा लिया है।

गिरिव्रज (राजगृह) में कोई ऐसा कारागार था जो अपनी उष्णता के कारण 'तप्तगृह' के नाम से प्रसिद्ध था। यह कारागार गृद्धकूट के आसपास था और इसी में अजातशत्रु ने बिम्बसार को कैद कर रखा था। यद्यपि इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है तथापि घटनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इस कारागार में विशिष्ट बन्दी ही रक्खे जाते थे और उन्हें भाँति-भाँति से पीड़ित किया जाता था। वस्तुतः तप्तगृह एक यातना-गृह था। उसकी उष्णता के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। अपने तप्त जल-कुण्डों के लिए राजगृह आज भी विख्यात है और अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण गर्मी के दिनों में भट्ठी बन जाता है। पुस्तक का नामकरण इसी पृष्ठभूमि में हुआ है।

कथा-वस्तु बहुत पुरानी है, परन्तु रचना सन् ५२-५४ की है। इसलिए स्थान-स्थान पर अति-आधुनिक इतिहास अभिधा और लक्षणा में बोल उठा है। ग्रन्थकर्त्ता ने भावों को अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ना चाहा; लेकिन जीत हुई जागरूक कला की। काव्य का यही चिरंतन सत्य है।

प्रबन्ध के स्थापत्य के विषय में मुझे यही निवेदन करना है कि आरंभ से अंततक मैंने मुक्त छंद का प्रयोग किया है और व्याकरण के संकेतों के प्रति बहुत कृपण रहा हूँ। जहाँ भाव रुकता है वहीं अपने-आप छंद भी रुक जाता है। अन्यथा वह अबाध गति से बहता रहता है। काव्य-मर्मज्ञ मेरे इस कथन से सहमत होंगे।

अन्त में, मैं हृदय से डा० त्रिवेद का आभार मानता हूँ। पुस्तक को इस रूप में देखकर वे सबसे अधिक प्रसन्न होंगे—ऐसा मेरा विश्वास है। मैं अपनी धर्मपत्नी कमला के प्रति भी कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ। छोटे-से घर के कोलाहलमय वातावरण को जो कविता के अवतरण की पृष्ठभूमि में बदल दे—ऐसी ही स्नेहमयी नारी को मूर्तिमती कविता कहा जाता है।

३ हार्डिञ्ज रोड
पटना–१
१७–६–५४

प्रभात

हिन्दी-भूषण

श्रद्धेय श्रीशिवपूजनसहायजी को सादर

—प्रभात

प्रथम सर्ग

शारदे ! तुम्हारी ही
इच्छा से प्रेरित हो
कहता है कवि पुकार
"जय हो मनुष्य की
मानव की जय हो
जय हो उस धरती की
जिसकी सुखदायिनी
गोद में दिवस - रात
पलता मनुष्य है,
जिसका सहाय पा
चलता मनुष्य है
दुर्दिन के मेघों की
निर्मम - हिलोर में,
चलना मनुष्य है
जिसका सनेह पा
लपटों पर अग्नि की,
जिसका सनेह पा
जलना मनुष्य है

जलता है जिस भाँति
मानवता - मंगल का
पुण्य - दीप, चीरकर
नाग की कठोरतम
घड़ियों का अन्धकार !

"कवि तो तुम्हारे ही
चरणों की ज्योति का
अंश एक छोटा - सा,
वह तो तुम्हारे ही
मंदिर के द्वार पर
लीन साधना में हो
अलख जगाता है,
वह तो तुम्हारे ही
स्वर को दुहराता है।

"जय हो मनुष्य की
मानव की जय हो,
इच्छा तुम्हारी यह
निश्चय ही शारदे !
प्रथम - प्रथम तुमने ही
मानव का कंठ खोल
विश्व को पुकारा था,
प्रथम - प्रथम तुमने ही
मानव की साँसों के
तारों को बजाया था।
निकली झंकार जो

शून्य की सुवास - भरी
छाया की हास - भरी
पहली पुकार - सी
उस पर थे नाच उठे
नभ के असंख्य प्राण,
नाच उठे उस पर थे
श्यामल सजल मेघ,
अनिल - चरण चंचल - से
सघन नील पर्वत के
रोम - रोम पुलकित - से,
सागर के ज्वार और
भाटा के क्रम अनन्त
नाच उठे उस पर थे
कोटि - कोटि नेत्रों को
खोल - खोल विस्मय से !

"शारदे ! तुम्हारी यही
इच्छा है, ज्ञात मुझे,
मानव वरेण्य हो,
मानव नमस्य हो,
टूटे न मानव की
मानवी - परम्परा ।
उर - उर में बहती हो
प्रेम की अनन्त धार,
दृग - दृग में वर्तिका
जलती हो स्नेह की,
कंठ - कंठ आर्द्र हो

करुणा की कूक से,
श्वास-श्वास पुलकित हो
पावन पराग - भरे
ऊर्म्मिल अनुराग से।
जीवन हो त्याग की
तप की, तपस्या की
तान—ताल - ताल पर
जिसके हो मंत्र - मुग्ध
उतरे देवत्व साथ
लेकर प्रकाश - पुंज
मानव को प्यार से
शारदे ! सँवारने।"

किंतु लिखी मानव ने
अपने ही ढंग से
अपनी कहानियाँ
साक्षी इतिहास है
जिसके अनन्त पृष्ठ
मानव के रक्त से
लाल - लाल आज भी
जिसके अनन्त पृष्ठ
आज भी कराहते
बन्द अक्षरों में कर
आर्त्तनाद युग का
साक्षी इतिहास है
मानव ने प्यार किया
सत्ता को, बल को

और मनुष्यत्व को
चरणों से रौद कर
डाल दिया जलने को
भट्ठा में नाश की
साक्षी इतिहास है
मानव ने गर्व से
स्थान दिया उच्चतम
जीवन में स्वार्थ को
और डाल मस्तक पर
रत्नमुकुट उसके
आरती उतारी झूम-
झूम कर पुजारी - सा

रक्त - भरी जीत यही
मानव के स्वार्थ की
उस दिन थी खोल रही
आँखो को, व्यंग्य ले
होठों पर लाल - लाल
जाग उठा गौरव - मद-
गर्वित गिरिव्रज जब
मोहक पुकार पर
लाल - लाल किरनों की ।
देवदत्त सोया कब
निद्रा न पास आई
एक पल उसके
उसका मस्तिष्क था
जागता मसान - सा

और वह विचारों के
विस्फुलिंग भीषण ले
रचता विधान था
गिरिव्रज के ध्वंस का
गिरिव्रज की गरिमा में,
कीर्ति में कलंक का
चिह्न लग जायेगा
मस्तक झुक जायेगा
गर्वयुत मगध का
इसकी न चिंता थी
चिंता थी एकमात्र
नीच स्वार्थ - सिद्धि की

गौतम का तेज वह
ज्योति वह गरीयसी
द्युति वह वरीयसी
हृदय देवदत्त का
प्रतिपल था मालती
गौतम आत्मीय थे
बन्धु थे, सखा थे और
निस्पृह, निरीह थे
मंगल संसार का
परित्राण मानव का
त्राण मानवता का
गौतम के जीवन का
एकमात्र व्रत था।
त्याग, सत्य, सेवा का

और संघवाद की
चतुरंत सत्ता का
तेज बढ़ा वेग से
गौतम के प्रेममय
पावन नेतृत्व में
चरणों में अवनत थे
एक क्या, अनेक नृप
एक क्या, महान शक्ति-
शाली जनपद अनेक
स्वागत में जन-मन का
स्नेह नहीं रुकता था
स्वागत में मागध-
सम्राट बिम्बसार ने
अर्पण साम्राज्य किया
आदर से, प्रेम से,
श्रद्धा से, भक्ति से,
उर-उर में एक ही
तरंग थी, उमंग थी
इच्छा थी एक ही
एक ही लगन और
संकल्प एक ही—
"चलो शरण बुद्ध की
चलो शरण धर्म की
चलो शरण संघ की।"

भक्तिपूर्ण शब्द ये
स्वप्न में भी गूंजकर

द्वेषी देवदत्त को
विचलित कर देते थे,
और वह बार-बार
क्रोध से दबाता था
होठों को अपने।
बार-बार उठता था
खौल रक्त उसका;
जलती थी ईंधन-सी
साँसें, शरीर और
मन की समस्त शांति।
सौ-सौ शलाकों से
अग्नि को कुरेद कर
हिंसा उकसाती थी
लपटों को वेग से।

देवदत्त बोल उठा—
"धर्म-चक्र गौतम का
आगे ही बढ़ता है,
जनपदीय शासन भी
आ चुका प्रभाव में।
आचार्य मैं भी हूँ,
हिंसा ही रोकेगी
गति अब अहिंसा की।
मेरे संकेत से
चलेगा धर्म-चक्र अब,
मेरी ही इच्छा अब
होगी संचालिका—

शक्ति संघ - धर्म की,
चाहे चुकाना पड़े
जो भी मूल्य इसका !"

बिम्बसार मागध-
सम्राट नीद - मग्न थे;
किंतु राजधानी की
आत्मा न सोई थी।
उसने पुकार सुन
द्वेष की कठोरतम
स्वर में संकल्प के
नीच देवदत्त के
गहरी - सी साँस ली
और फिर पूर्ववत्
शांत वह हो गई !

द्वितीय सर्ग

आकर प्रतीहार ने
सादर प्रणाम किया
बोला फिर कोणक से—
"द्वार पर पधारे हैं
आचार्य देवदत्त
दर्शनार्थ चाहते हैं
आज्ञा कुमार की।"

घोरातिघोर गिरि-
कानन के शून्य-सा
नीरव प्रकोष्ठ था
बैठा एकाकी था
कोणक अशांत-सा
वायु के थपेड़ों से
क्षुब्ध नील-जल-तल पर
लोटता है कन्दुक-सा
पूनम का चाँद ज्यों
दोलित त्यों होता था

मुख-फलक उसका
उन्नत ललाट पर
रेखाएँ अनमिल-सी
रह-रहकर बनती थीं
और मिट जाती थीं
मानों भाग्य-पट पर
लिखता हो काल कुछ
और फिर अदृष्ट के
कर से मिटाता हो!
आँखें थी देख रहीं
चित्र भाँति-भाँति के
शून्य की तरंगों में
जो समौन उठती थीं
चूम तट भविष्य का
जिसकी पुकार को
सुनने में लीन थे
श्रवण द्वार खोलकर
चाहते नहीं थे वे
अन्य स्वर सुनना
किंतु प्रतीहार का
सविनय निवेदन वह
कोणक को जान पड़ा
कोमल व्यवधान के
मूक - सम्मोहन - सा

और वह बोला यों—
"आचार्य देवदत्त

आए हैं, ऐसे ही
आता महाप्लावन भी
आना जलप्लावन का
अनिवार्य जीवन में
होता प्रतीत कभी
जलावर्त्त सब ओर
डूबी धरित्री हो
डूबी दिशाएँ हों
डूबा नभ-मंडल हो
तिरती हो भीमकाय
ढेवों पर विप्लवी
चाह अपराजिता
मुक्त कर बन्धन से
अपने उन्माद को,
स्यात् इसी ढंग से
नवीन सृष्टि होती है
देवदत्त आए हैं
आने दो, स्वागत है।"

लौटा प्रतीहार कब
कोणक को ज्ञात नही
वह तो निमग्न एक
पल में ही हो गया
कूल - हीन वृन्त - हीन
सपनों में अपने।
कौशिकी पड़ी रही
सामने, न डोल पाई

भीतर की मृद्विका।
ऐसा ही तीव्रतर
होता माध्वीक है
सपनों का मन के,
लज्जित - से दाखते
जिसकी तरंग के
ंग की चमक में
रंग इन्द्रधनु के

देवदत्त ने समीप
आकर पुकारा जब
कोणक ने हाथ जोड़
सादर प्रणाम किया
स्थान दिया पास ही
और लगा एकटक
भिक्षु को निहारने।
सोचा देवदत्त ने
"लगता है कोणक क्यों
मद्यप - सा खोया - सा!
कोणक ही एकमात्र
मेरा भरोसा है
अस्त्र है अमोघ और
अन्यतम सहारा है।
छोड़ दिया इसने यदि
अपना संकल्प तो
मेरा संकल्प भी

पतझर के पत्र - सा
लोटेगा धूल में !"

और देवदत्त के
स्वर में सशंकित - सा
विस्मय द्रुत बोल उठा—
"देखा था कल ही तो
पर्वत के उच्चतम
शृंग पर कुमार को;
संग में टहलते थे
कितने अरमान और
इच्छाएँ कितनी,
और आज देखता हूँ
खोया - सा, रुग्ण - सा
बन्द कारागार में
जाने किस मंत्र के ?"

कोणक का उत्तर था—
"सत्य कहा आपने,
बन्दी हूँ आज मैं
सपनों के मंत्र का,
किंतु नहीं उतरा हूँ
नीचे गिरि-शृंग से
प्रत्युत उठ ऊपर उस
उच्चतम शिखर के,
उड़ता निर्बन्ध - सा
मेघों के पंख पर।

पृथ्वी से ऊपर हूँ,
आज बहुत ऊपर हूँ,
सुरधनु के रंगों से
रंजित घन-खंड पर
उड़ता हूँ बेध कर
व्योम - विस्तार को ।
जिस ओर जाता हूँ
मिलती प्रकृति मौन
मानों खड़ी हो मूर्त
आरती निवेदिता !

"और जब देखता हूँ
ऊपर से धरती को,
लगता है, एक साथ
उठती हैं शत सहस्र
ज्वालाएँ वह्नि की
रत्न-मुकुट कर मे ले
करने उमंग से
राज - तिलक मेरा !
स्वप्नों का राज्य है
कैसा सुहावना
कितना सुहावना !
रहने न दूँगा मैं
भिक्षुवर ! आपको
धूल-भरी पृथ्वी पर ।"

हल्की मुस्कान एक
दौड़ गई धीरे से
होठों पर भिक्षु के
और वह बोल उठा—
"यह तो है कल्पना
सुन्दर - मधुर किंतु
कोमल कि छूते ही
जाय मिट ओस - सी।
धरती कठोर है
क्योंकि वह सत्य है,
सत्य का स्वरूप सदा
होता कठोर है;
उड़ता जो बेसुध हो
सपनों के पंख पर
उसको मैं कहता हूँ
कायर और क्लीब ही,
स्यात् नहीं ज्ञात यह
आजतक कुमार को,
जिसकी भुजाओं में
होता अजेय बल
होता भीमकर्मा जो
मुकुट उसी वीर के
मस्तक पर साभिमान
धरती है धरती।"

नेत्र द्वय कुमार के
दहक उठे क्रोध से

और अपमान मे
वाणी कुछ उग्र हुई—
"दान पर, दया पर जो
पलते है भिक्षु, उन्हें
किसने अधिकार दिया
कहने को क्लीब और
कायर कुमार को ?
कोणक के शौर्य का
प्रमाण स्वयं युग है
कोणक नरसिह है
वीरों का वीर, बल-
पुंज वह अजेय है।
आज वह कुमार है
किंतु अधिकारी है
मागध - सम्राट के
राज्य - सिंहासन का।"

व्यंग्य ने प्रचण्ड
अट्टहास किया स्वर में
दुष्ट देवदत्त के—
"कोणक कुमार हैं
और रह जायँगे
आमरण कुमार ही;
कहता हूँ सत्य मैं
वर्तमान साक्षी है
रक्त - लिप्त

अकस्मात्
गरज उठा कोणक
तरेर कर दृग को
"सावधान, भिक्षुवर !
ऐसा न हो कि खड्ग
जाय उठ आप ही,
मागध - सम्राट की
हत्या की मंत्रणा
उनके ही पुत्र को ?
नाश प्रजा - पालक का ?
भिक्षुवर ! ज्ञात है
सीमा को लाँघकर
बोलना न क्षम्य है ?"

कपटपूर्ण भिक्षु ने
भीषण अट्टहास किया
अट्टहास करता है
जिस प्रकार बेताल
रक्तयुक्त अस्थि और
मज्जा का पान कर
चषक में श्मशान के
गूँजा प्रकोष्ठ शून्य
उठता है गूँज ज्यों
अन्तराल पर्वत का
गर्ज से बवंडर के
प्रतिध्वनित होता ज्यों.

स्तब्ध प्रांत रजनी का
कम्प - भरे भय की
प्रकम्प - भरी आहट से

बोला फिर देवदत्त—
"सपनों के उच्चतम
शृंग पर अजेय - सा
चढ़कर उड़ाता जो
विजय - केतु अपना
होता है बुद्धि और
दृष्टि तीव्र उसकी
किंतु अधिकार है
दृष्टि पर कुमार की
मिथ्या के मोह का।
किसने उठाया है
प्रश्न पिता - पुत्र का?
सत्य है कि पलते हैं
भिक्षु दया - दान पर
किंतु नहीं राजमुकुट
मिलता है दान में
वह तो पराक्रम का
पौरुष का, बल का
रक्त - भरा मूल्य है।"

कोणक गंभीर हुआ
किंचित् उदास भी
किंतु अभिमान उठा

तड़प शीघ्र उसका
और तीव्र स्वर में
बोला वह—"भिक्षुवर,
यह तो असंभव है
कहता पुकार मैं
कहता हूँ बार-बार
यह तो असंभव है!
स्वप्न मेरे फूलेंगे
विहँसेंगे, फलेंगे और
देखेगा चकित विश्व
एकटक दृश्य वह।
मिटने न दूँगा मैं
आशाएँ अपनी
और अभिलाषाएँ
जिनको दिवस-रात
पालता रहा हूँ मैं
अपने शरीर के
प्राणों के, मन के
शोणित से सींच कर
जिनका उदग्र और
उन्नत शिर ऊँचा है
उच्चतम विटंक से भी
निस्सीम नभ के!

"चित्र वर्तमान का
दूँगा बदल मैं
और जो नवीन चित्र

पौरुष गढ़ेगा वह
होगा रंगीन बस
एक ही रंग से
तेजोमय एक ही
मूर्ति होगी उसमें ।
जीवन - भर कोणक
रहेगा कुमार नही
होगा सम्राट वह
सारे मगध का
कहता है भाग्य यही
और यही कहती है
दूर से पुकार कर
नियति निकट आके
भिक्षुवर ! पथ का
आप निर्देश करे
और उस मार्ग पर
निर्भय निशंक हो
चलेंगे पैर मेरे !''

मुद्रा कठोर हुई
निठुर देवदत्त की
बैठा वह तन के
और अनल - कुण्ड - सी
दृष्टि लगी जलने
उसकी भयावनी
ऐसा प्रतीत हुआ

दीप दो विनाश के
हों प्रदीप्त कोटर में !
मौन वहाँ व्याप्त रहा
दो क्षण या चार क्षण
और बाद इसके
वज्र - सा उठाया निज
दक्षिण कर उसने
और संकेत कर
खड्ग जिस ओर था
उँगली से, बोल उठा—
"दिव्य लौह - देन वह
मार्ग है कुमार का
होगा पर्याप्त बस
एक ही प्रहार तो
एक ही प्रहार से
शीश बिम्बसार का
लोटेगा धूल में

"आज का मनुष्य अति
अल्पायु होता है
कोणक कुमार हैं
और अधिकारी हैं
मागध - सम्राट के
राज्य - सिंहासन के
किंतु कभी सोचा है
शुभ दिन वह आयेगा
या कि रह जायेगी

आशा अधूरी ही
शासक कुमार हैं
अंग जन - पद के
लघु - लघु प्रदेश और
मुट्ठी - भर जनता
दूर राजधानी से
इसका महत्त्व क्या ?

"मागध - सम्राट अभी
बिम्बसार जीवित हैं
ज्येष्ठ पुत्र दर्शक हैं
और सम्राट की
आज्ञा से देखते
राज - काज वे ही
गिरिव्रज पर फैला है
अधिकार उनका

"इनके अतिरिक्त एक
और चट्टान है
जिस पर सम्राट का
प्रेम भी अपार है
होंगे कुमार नहीं
भूले अभय को
जिसके शरीर में
रक्त म्लेच्छ-वंश का
वेग से है दौड़ना
दृष्टि अड़ी जिसपर है

वज्जि - वैशाली की
चित्र में कुमार है
दीखते कहीं नहीं
उनको है प्रेम एक
छलना मे, स्वप्न से
जानते कुमार नहीं
आती न राज्य - श्री
राजमुकुट लेकर
अपने से पास कभी।
किसने उभाड़ा है
कोणक - सा पुत्र को
पिता के विरोध में ?
व्यर्थ दोषारोपण है
व्यर्थ अभियोग है
कातर कुमार का।
एक शुभचिंतक की
वाणी में स्वर खोल
नीति ने पुकारा था।
राज - मुकुट मिलता है
खड्ग के सहारे ही
नीति यही कहती है
आयु घटी जाती है
प्रतिपल संसार में
आसन सम्राट का
चाहता है व्यक्ति जो
उसको तो खड्ग के हो

पथ पर है चलना
प्रश्न पिता - पुत्र का
उठता फिर कैसे ?

"और एक बात है
मागध - साम्राज्य का
सारा इतिहास ही
शोणित से लाल है
खड्ग की कहानी ही
इसकी कहानी है
कण - कण में नीव के
इसकी प्रवाहित है
रक्त—देन खड्ग की

"छिन्न किया मस्तक
रिपुंजय का खड्ग ने
साहसी पुलिक के
आया नृप बालक तब
स्वर्ण - सिंहासन पर
मागध - साम्राज्य के
भट्टिय के हाथ मे
खड्ग वही चमका फिर
राज - मुकुट पाया तब
तरुण बिम्बसार ने
रक्त ब्रह्मदत्त का
अर्घ्य बन अंग का

दिन - रात धोता है
चरण गिरिव्रज के

"स्पष्ट है कि राजा है
खेल बाहु - बल का
गेंद - सा उछलता वह
इधर-उधर पल - पल में
ठोकरों पर बल की
प्रश्न पिता - पुत्र का
या कि प्रजा - जन का
उठता न इसमें !"

कोणक द्रुत बोल उठा—
व्याकुल हो, व्यग्र हो—
"चाहता हूँ कर दूँ मैं
घोषणा समग्र यही
देवदत्त बुद्ध हैं
धूर्त्त नहीं गौतम - सा
देवदत्त वीर हैं
बल के प्रतीक हैं
कायर या क्लीब नहीं
भीरु सिद्धार्थ - सा

"चाहता हूँ बोलूँ मैं
जय हो भिक्षुवर की
जय हो उस खड्ग की
जिसके संकेत पर

नूतन युग आता है
किंतु घूम जाता है
मस्तिष्क चक्र - सा
शत - सहस्र झंझाएँ
दौड़ रहीं प्राणों में
उठती तरंग पर
तरंग विक्षुब्ध हो
बाड़व की ज्वाला से
भाव-सिधु खौलता
शांति चाहता हूँ मैं
नीरव एकान्त की।"

और उठ वेग से
कोणक चला गया
शून्य शयन - कक्ष में
क्रूर मुस्कान एक
होठों पर दौड़ गई
कुटिल देवदत्त के !

तृतीय सर्ग

धन्य भूमि भारत की
वैभव - विभूतिमयी
धर्म - धृति - धारिणी
जग - जन - मन - हारिणी
लसित गुण - गरिमा से
महिमा से विलसित सित
सुघर मधुरिमा से
मंडित, मधुर - मंजु,
मंजुल, मनोज्ञ
स्वर्गादपि गरीयसी
वरीयसी नमस्य
चिर - वन्दनीय कह के
वाणी के पुत्रों ने
वेदों के स्वर को ही
सादर दुहराया है
आजतक विमुग्ध हो
इसके यश - गान में

किंतु मैं प्रशस्ति - गान
बार - बार गाता हूँ
इसके उस धैर्य का
खंड - खंड होकर भी
अविचल अखंड जो !
कहता इतिहास है
एक ही हिलोर में
कितने नगर - ग्राम
जन - पद समेटकर
तुष्ट किया झूम - झूम
धरती के क्रोध को
अतल महासिंधु ने
प्रलय-रूप धारण कर
ज्वालामय ज्वालामुख
दाहक अंगार इसी
क्रोध के उगलते !

किंतु भूमि भारत की
दयामयी, क्षमामयी
निकली थी सागर के
अंत-हीन गर्भ से
पालने मनुष्य को
सँभालने समष्टि को
और वही मानव तब
गौरव - मद - मत्त हो
माता धरित्री का
कोमल तन, कोमल मन

रक्तप - सा बार - बार
हाय, लगा रौंदने !

हिंसक प्रवृत्ति यही
थी प्रधान एक मात्र
बीच कुरुक्षेत्र के
जिस ठौर उद्धत - सा
पशु - बल था नाचता ।
धर्म था छिपा हुआ
धरती के आँसू मे
लुटती नय-नीति की
सारी मर्यादा थी
होता प्रहार था
गौरव पर, स्नेह पर,
श्रद्धा पर, भक्ति पर,
त्याग पर, तपस्या पर,
लज्जा की लाज पर

ज्वाला जब परिणति की
सुलग उठी धू - धू कर
स्वाहा सर्वस्व हुआ
रक्त - लिपि शेष रही
हिंसा के पृष्ठ पर !

विस्मय की बात क्या
खड्ग तब उठाया यदि
मद - मत्त कोणक ने

राज्य - सिंहासन के
प्राप्ति - हेतु गर्व से ?
स्वार्थ एक दानव है
जिसकी परिणीता है
हिंसा रक्तांजना ।
साक्षी हैं ध्वंस के
अनुचर—तूफान, जल-
प्लावन, भूकम्प और
अशनि - पात, दावानल
बड़वाग्नि गर्जनमय ।
सहमे थे एक बार
स्वयं ही विधाता भी
मानव - मस्तिष्क के
खप्पर में रक्त घोल
स्वार्थ ने किया था जब
अंकित सोहाग - चिह्न
हिंसा की माँग में
अंक में समेट कर !
स्वार्थ एक जादू है
काला, कलंक - सा
भीषण पिशाच - सा
स्वार्थ एक ज्वाला है
रौरव के कुण्ड की
जिसमें चुप जलती है
करुणा की भावना
मंगल समष्टि का

भविष्य मानवता का
जनता का, जन का
मगध इसी ज्वाला में
दिन-रात जलता था !

बैठे थे विम्बसार
दृष्टि निष्पलक डाल
कुशला के मुख पर
रानी गंभीर थी
आयत दृग उसके थे
धरती को हेरते
स्यात् कोई प्रश्न था
मागध सम्राट और
रानी के बीच खड़ा
दुर्गम - दुरूह - सा
नीरव विरोध था
रानी का बोलता
मुद्रा में उसकी
मृदु - हास - मंडित थे
होठ बिम्बसार के
मानों तपन - ताप -
तप्त भूध्र ईषत् हँस
कहता हो स्नेह से
पुकार कर वर्षा की
पहली बयार को
"जल कर भी अविचल मैं

मेरे गाम्भीर्य की
साँसों में जाओ भर
तुम तो हो शीतल
सुमंद - गंध - वाहिनी !"

इतने में द्वार खुला
भीतर प्रवेश किया
कोणक ने निर्भय - सा
और हुआ एक पल
विस्मित उस ठौर पा
माता को अपनी
बैठ गया एक ओर
इंगित पिता का पा
रानी की दृष्टि गड़ी
नीचे पूर्ववत थी।

स्वर में गंभीर अति
पूछा सम्राट ने—
"चाहते कुमार क्या
प्यार निज पिता का
दुलार जननी का या
गौरवमय स्वर्ण - मुकुट
मागध - सम्राट का ?
उत्तर कुमार का
चाहता मगध है
चाहना मगध का
भविष्य मेरे स्वर में।"

शीघ्र उठ खड़ा हुआ
कोणक प्रश्न सुनकर
मागध - सम्राट का
त्वरित दिया उत्तर
रुका न एक क्षण भी
ऐसा प्रतीत हुआ
प्रश्न बिम्बसार का
पहले से ज्ञात था
और निज पथ पर वह
अविचल था, दृढ़ था
बोल उठा निर्भय हो—
"खड्ग चाहता हूँ मैं
एकमात्र खड्ग ही
इसके सहारे ही
सब कुछ मिल सकता है
राज्य - सिंहासन तो
इसके संकेत पर
लुटता है, झुकता है!
मेरे संकल्प का
तेज यही दिव्य है
खड्ग यही मैंने
सहर्ष अपनाया है
और यही प्रिय है
सम्राट के मगध को!"

स्वर में सम्राट के
निर्मम - सा तर्क ने

पूछा तड़ाक से—
"तो है स्वीकार तुम्हें
आए थे खड्ग ले
मागध - सम्राट के
कक्ष के समीप तुम
उनका वध करने को ?"

कोणक ने उत्तर दिया
पत्थर के स्वर में—
"मैं ही था, सत्य है
और यही खड्ग था
मेरा उद्देश्य था
हत्या सम्राट की।"

सुलग उठा क्रोधानल
कुशला के मन में
आँखों से फूट पड़ी
सौ - सौ चिनगारियाँ
काँपने शरीर लगा
होठ लगे डोलने
बोलने की शक्ति लगी
प्रलय - द्वार खोलने
किन्तु संकेत कर
आँखों से रोक दिया
धीर बिम्बसार ने
देता है रोक ज्यों
उद्भट अकूल - कूल

कूल - हीन कुल्या के
आकुल कल्लोल को
और स्वयं बोला वह—
"केवल न खड्ग ही
तुमने उठाया है
तुमने उठाया है
प्रश्न एक भारी
उत्तर यदि चाहूँ तो
दे दूँ मैं पल में
चाहता, परन्तु, मैं
उत्तर भविष्य दे
तुमको इतिहास के
पृष्ठों में बोलकर

"तुमने सम्राट का
चाहा वध करना
घोर राजद्रोह यह
और तुम वध्य हो
डाकू - सा लूटना
चाहा सुहाग निज
माता का तुमने
मानवता - द्रोह यह
जिसका कलंक नहीं
मिटता है दण्ड से
मृत्यु भी न सकती धो
कालिख को जिसकी

"मैं हूँ सम्राट, किन्तु
आँखें पिता की हैं
बार - बार हेरतीं
तुमको जो प्यार से
इच्छा थी, देखूँ मैं
अपने को तुम में
किन्तु दीख पड़ता है
तुममें पिशाच उस
क्रूर देवदत्त का !
देवदत्त काला है
काली है छाया भी
वैसी ही उसकी
किन्तु तुम्हें प्यारी है
इसका ही दुःख है

"फिर भी तुम पुत्र हो
पुत्र कुशला के हो
चाहती कुशल जो दिन—
रात प्राणि - मात्र का
आओ, लूँ चूम मैं
खड्ग वह तुम्हारा
उस पर न्यौछावर यह
मागध - साम्राज्य है
अंग में, मगध में,
आज से तुम्हारा ही
सर्वत्र शासन है

चारों ओर कर दो
सहर्ष यह घोषणा
"किन्तु मत भूलना,
शासन का तंत्र हो
कोई भी, किन्तु जब
जाता बलवत्तम हो
स्वार्थ, तब प्रवंचना
लिखती है रक्त से
उसकी कहानियाँ।"

★

चतुर्थ सर्ग

कोणक का मौन था
अर्थ नही मौन का
वह तो विस्फोट के
पहले का मौन था
आकुल उफनाता - सा
प्रतिपल धुआँता - सा !

की थी बिम्बसार ने
स्नेहमयी भर्त्सना
किंतु लगी कोणक को
तीखी और कटु वह
मन मे, मस्तिष्क में
आँधी लगी क्रोध की
हाहाकार करने
हाहाकार करती है
जैसे बरसात की
वेगमयी क्रुद्ध धार

सम्मुख विलोक कर
मिट्टी के बाँध को।

कोणक रण - लिप्सु था
उग्र उद्दण्ड था
हिंसक प्रवृत्ति का
पोषक प्रचण्ड था
खड्ग उसे प्यारा था
जिसने जयकार किया
उसके इस खड्ग का
प्यारा था वह भी
प्यारी इसी कारण थी
उसको विभीषिका
प्यारी जिगीषा थी
और महाक्रांति वह
आती सवेग जो
आँधी पर नाश की
और नृत्य करती है
शव पर उन फूलों के
जो कि कभी कोमलतम
सुन्दरतम, पावनतम
स्वप्न थे मनुष्य के।

शब्द बिम्बसार के
यद्यपि उद्गार थे
कोमल ममत्व के
किंतु लगी कोणक के

क्रूर अहंकार को
ठेस एक गहरी
उसको प्रतीत हुआ
मानों प्रत्येक शब्द
देता चुनौती हो
उसके पुरुषत्व को
मानों प्रत्येक शब्द
करता अपमान हो
उसके व्यक्तित्व का।

उसको न मान्य था
अन्य का प्रभाव कभी
उमको न मान्य था
सादर स्वीकारना
वस्तु कभी दान की
बल का उपासक वह
खड्ग का पुजारी वह
चाहता न था कि कभी
कोई भी बाधक हो
सपनों की पूर्ति में
क्योंकि इन्हीं सपनों में
अन्त-हीन इच्छाएँ
उसकी थीं खेलती
जिस प्रकार अम्बर के
नीले परिधान की
छाया में हो विभोर
तारे हैं खेलते।

कोणक को असह्य थी
करुणा सम्राट की
और इस करुणा ने
ईंधन का काम किया
भड़क उठा दावानल
क्रोध का कुमार के
हृदय लगा गिरिव्रज का
घुल-घुल कर जलने।

भूल प्रेम, आदर को
श्रद्धा - सनेह को
भूल मर्यादा को
भूल मानवता को
ग्रहण किया खड्ग था
जिसने विरोध में
पूज्य निज पिता के ही
प्रश्न भाइयों का, या कि
जनता का, जन का
सम्मुख न उसके था
किसी भाँति उठता।

विह्वल, ह्वल, शीलवंत
दर्शक, विमल आदि
भाई थे कोणक के
भाई था अभय भी
पुत्र वैशाली की
शोभा का स्नेह-भरा।

क्रूर प्यास शोणित की
कोणक के गर्व की
दौड़ी उन्मत्त हो
सर्वनाश संग ले
भीषण आतंक से
सब-के-सब काँप उठे !

मौन इतिहास है,
पूछा था उस दिन पर
मैंने समीप जा
गिरिव्रज के शून्य से
पूछा था बुद्ध के
वीर महावीर के
चरणों की धूल से
उड़ती जो आज भी
वायु की हिलोर में
चूम-चूम गिरिव्रज की
सोई हुई ज्योति को
झरनों की धार से
नीरव पुकार से
नग-गिरि-शृंग की
शोभन-वन-पंक्ति से
मैंने यह पूछा था—
"शीलवंत आदि क्या
कायर थे, क्लीब थे ?
शौर्य नहीं रक्त में
उनके था कौंधता ?"

उत्तर गंभीर मिला
सब से बस एक ही—
"श्रेयस था पुण्य - मार्ग
गौतम के धर्म का
श्रेयस था पुण्य - पंथ
वीर वर्द्धमान का
शीलवंत आदि को
श्रेयस ही मान्य था
मान्य थी न श्रेष्ठता
सत्ता की, राज्य की
वैभव - विलास की
अथवा प्रभुत्व की।"

किसका विरोध और
हेतु क्या विरोध का ?
काया में जिसकी हो
दौड़ रहा वेग से
एक ही पिता का
अनुराग - भरा रक्त उष्ण
अशुभ उसी भाई का
तुच्छ साम्राज्य - जन्य
सत्ता के हेतु था
मान्य नही उनको
ऐसे विरोध को
मानकर नृशंसता
उन्होंने भिक्षु - वृत्ति

जाकर स्वीकार की
पावन शरण में
अर्हत की, बुद्ध की !

उनके इस त्याग पर
धीरे से रो उठीं
आँखें सम्राट की
और निकल कंठ से
उनके उच्छ्वास एक
आया उदास लौट
कोणक के पास से
फिर भी न बन्द हुआ
बलि - यज्ञ उसका !

गिरिव्रज के सुन्दरतम
निर्झर के कूल पर
देवदत्त बैठा था
कोणक के पास ही
शोभित था सम्मुख ही
वह ललाम शैलराट्
जिसका हृदय चीर
फूट पड़ा निर्झर था
निर्मल संगीत के
उज्ज्वल कल उत्स - सा
और था प्रफुल्लित हो
बहता उमंग से

भरता तरंग - रंग
कण - कण में तीर के ।

अकस्मात् निकल पड़े
कोणक के मुख से
शब्द उल्लास के—
"बहता इसी प्रकार
स्वच्छंद कोणक भी
विघ्नों का दर्प कर
चूर - चूर विजयी - सा
बहता है और वह
बहता ही जाता है
लहरों - सी नाचती
इच्छाएँ मन की
दोनों असीम हैं
वितान मन - नभ का
प्रतान अभिलाषा की
आशा की उच्चतम
उड़ान भी असीम है
सबको समेट कर
साँसों के कम्प में
बहता है कोणक और
बहता ही जाता है
उधर बढ़ा आता है
स्वागतार्थ हाथ जोड़
शोभन भविष्य, बिना
रथ के अधीर हो !

नीरव आचार्य हैं
क्योंकि उन्हें लगता है
यह सब दुरूह - सा !"

और फिर अट्टहास
गूँज उठा कोणक का !

देवदत्त बोला यों—
"सम्मुख वह शैलराट्
मूर्त अभिमान - सा
बैठा है वक्ष तान
केन्द्रित कर अपने में
जीवन - बल निर्झर का
उसके नियंत्रण में
वह समग्र कोष है
जिसका अनुवाद - भर
यह प्रमत्त निर्झर है
जिसको हिलोरों पर
बहते कुमार हैं
किंतु यदि शैलराट्
खोले न कोष तो
होगा क्या कुमार का ?
नीरव कुमार हैं
क्योंकि उन्हें लगता है
यह सब दुरूह - सा !"

और फिर अट्टहास
गूँज उठा भिक्षु का

कोणक का उत्तर था—
"भिक्षुवर भूल रहे
कोणक कुमार नहीं
अब वह सम्राट है
मागध - साम्राज्य के
भाग्य का विधाता है।"

व्यंग्य किया भिक्षु ने—
"कोणक कुमार हैं
केवल कुमार ही।
भाग्य का विधाता
सम्राट शैलराट् - सा।
क्योंकि अधिकार में
कोष है उसीके
जिसके अधिकार में
रहती है राज्य - श्री
वस्तुतः वही तो
सम्राट कहा जाता है
पास मात्र खड्ग हो
जिसके, न कोष हो
मगध उसे 'श्रेणि - बल'
कहकर पुकारता!"

× × × ×
× × × ×
शासन मगध का वह
कैसा विचित्र था!

राजा था, राज्य था
जन-पद थे, जनता थी
किन्तु नही कोई थी
शृंखला समाज में।
चाँदी और सोने के
टुकड़ों पर हाट में
होता था मोल - जोल
पौरुष का, शौर्य का।
राजा की इच्छा के
तृप्ति - हेतु बिकता था
पानी तलवार का
नीति साम्राज्य के
अनुदिन विस्तार को
मूल्य मनमाना दे
खुलकर थी खेल रही
धज्जियाँ उड़ाकर
प्राचीन आर्य - नीति की।
'श्रेणि - बल' सर्वप्रिय
नारा था युग का,
सैनिक मनोवृत्ति यही
व्यापक सर्वत्र थी
छाई कुहासा - सी
आशा के वन में
और अभिलाषा की
भाषा में, भाव में
उड़ते थे अग्नि - कण।

× × × ×
× × × ×
× × × ×
× × × ×

चम्पा पर, अंग पर
गिरिव्रज पर शासन था
कोणक का, पाया था
उसने अधिकार यह
बिम्बसार से ही !
किन्तु था नियंत्रण
समस्त राज्य-कोष पर
स्वयं बिम्बसार का।
व्यंग्य देवदत्त का
समझ लिया कोणक ने
किन्तु रहा मौन ही।।

बोला पर देवदत्त—
"नीति नहीं देखी थी
जैसी कुमार की !
'श्रेणि - बल' बिकता है
दिन - रात हाट में
आदर या श्रद्धा से
आता न पास वह
उतना ही क्रूर वह
जितने आकर्षक हैं
अपने भविष्य के
राज्य - कोष दोनों को।

सकता है मोल ले
किंतु तलवार ही
पूँजी कुमार की
चूर-चूर होने को
उठती जो गर्व के
कर में अकेली।''

और लगा देवदत्त
एकटक देखने
निर्झर के वेग को
कोणक न बोला कुछ
किंतु कुछ बोल गईं
उसके मुख-मंडल की
रेखाएँ गूढ़-सी
और उठा गूँज-सा
परिचित संकल्प एक
क्रूर देवदत्त की
आँखों के तेज में
देख तप्तगृह को !

पंचम सर्ग

बिम्बसार सोये थे
रक्त - हीन, पीत वर्ण
तन अशक्त
पलकें अलसाई - सी
यत्र - तत्र स्वेद - बिंदु
सौम्य मुख - मंडल पर
कम्पन से शून्य ओष्ठ
मानों वार्द्धक्य के
गौरव का दीप-पुंज
जलता हो मंद-मंद
छंद जला करता है
जैसे कारुण्य का;
मानों शिथिल शौर्य
देखता हो स्वप्न मौन
त्यागमयी साधना के
शीतल पर्यंक में
संज्ञा-हीन बैठी हो
पास ही सहिष्णुता ।

मुक्त वातायन से
आती थी कंपित पग
ढलती हुई रात की
शंकित - सी चाँदनी
आती है जिस प्रकार
ज्योति सजल कविता की
सोये महानिद्रा में
किसी महान कवि के
समुन्नत ललाट को
बार - बार चूमने !

सूनी थी कोठरी
पावक की उष्णता से
पूर्ण, काल - कोठरी
और एक कोने में
जलता था दीप एक
जिसकी अतीव क्षीण
'लौ' की पुकार पर
साँसें बिम्बसार की
तिरती थी मिटते-से
स्वप्न की हिलोर - सी

बाहर पहरुए
चलते थे गर्व से
चलने से होता था
रव जो कठोर अति
कहता था वह पुकार—

"चलते हैं दूत यहाँ
यातना के, यम के
मद - मत्त कोणक के
पागल संकेत पर
चलते हैं दूत क्रूर
घोर दुरभिसंधि के
पाकर आदेश किसी
कुटिल रक्त - लोलुप का

मूर्त अभिशाप - सा
रौरव के जलते हुए
कुंड - सा भयावना
लगता था तप्तगृह
जिसमें थे नीद - मग्न
बिम्बसार—मानों चुप
आयु का थका हुआ
अतिथि कोई सोया हो
आशा में भोर की !

सोये थे बिम्बसार
पास टूटी खाट के
बैठी थी आँसू से
भीगी हुई कुशला
लगती थी पहले वह
श्रद्धा की दीप्ति - सी
अर्चा - सी, अर्चा की
आभा - सी स्नेहमयी

लगती थी पहले वह
मधुर-मधुर ममता-सी
पूजा के मौन की
उच्छ्वसित भाषा - सी
किन्तु आज लगती है
पथ पर अनन्त के
साथ - साथ चलने की
आकुल उत्कण्ठा - सी
लगती उस ज्योति - सी
जिसकी पवित्र रश्मि
हिलती हो देखकर
तिमिर - दस्यु सामने
लगती है आशा के
विकल उस विहंग - सी
जिसको हो देख रहा
क्रुद्ध बधिक लाल-लाल
आग - भरी आँखों से !

बैठी है कुशला
आज साँझ से ही मौन
बैठी है कुशला
पूछा बिम्बसार ने
एक नहीं कई प्रश्न
पूछे प्रश्न बार - बार
किन्तु नहीं रानी ने
उत्तर दिया एक का

सेवा न बोली आज
साधना न बोली आज
बोली तपस्या नहीं
आज बस आँसू ही
बहाती रही वेदना !

सोचा बिम्बसार ने
'संभव है रक्त में
पुत्र - प्रेम उमड़ा हो
संभव है तप्तगृह
अब असह्य लगता हो
कुशला है रानी ही
कोमल स्वभाव है!'
और नृप सो गए।

दर्पण में आँसू के
देख लिया रानी ने
हृदय बिम्बसार का
चमक उठा पल में जो
भार - नमित पलकों पर
नींद - मग्न राजा की
और वह मौन रही
शत - सहस्र आँधियों के
वेग को दबाए हुए
जलते - से प्राणों में
और वह मौन रही

रोक कठिनाई से
भीतर के ज्वार को।

रात्रि रथ अपना ले
बढती गई आगे
तारक - प्रसून - दल
रौंदते कुचलते
कितनी अपूर्ण रहीं
ओसों की कथाएँ !

भट्टी - सी जलती थी
रानी की स्मृतियाँ
ऐसा प्रतीत हुआ
भावों को और अधिक
वह न रोक सकती है
धीरे से उठकर तब
सिसकी ले पास गई
मुक्त वातायन के।
देखा कि राजगृह
मुख्य नगर मगध का
सोया इतिहास की
रेखा के चित्र - सा
सोता है शिशु जैसे
जननी की गोद में
और खंड - खंड कर
व्योम का अखंड शून्य
उड़ता है सिंहध्वज

गाती हैं तारों के
शब्द - हीन गीत में
अपनी अशेष राग—
वारुणी उँड़ेल कर
निर्जन की निर्झरी
और गिरि - पंक्तियाँ।
पास कुशागार है
राजा बिम्बसार के
स्वप्न जहाँ अंकित हैं
कण - कण में तिल-तिल में
किंतु हाय ! .. .. ..

रानी यों
बोल उठी व्याकुल हो—
"राजा बिम्बसार का
अखंड कीर्ति - चिह्न यह
आदृत वैशाली में
कोशल में वत्स में
आदृत अवंती में
शौर्य का प्रतीक यह
किंतु कौन जानता कि
आज मूक छाया में
इस वैजयंती की
छीन रहा पुत्र एक
माँ का सोहाग निज
अपने क्रूर कर से

"चिर अतृप्त वैभव की
लिप्सा न रुकती है
प्रेम से पिता के या
माता के प्यार से
और जब सत्ता के
मद का प्रभाव हो
हिंसा की प्यास तब
बढती है वेग से
चाहती है रक्त वह
और रक्त माँगती
चाहे स्वजनों का हो
अथवा पुरजन का
रक्त ही बुझाता प्यास
सत्ता के मद की
सत्य यही तप्तगृह
आज सिद्ध करता !

"राजा बिम्बसार का
दोष क्या, न जानती
फिर भी वे बन्दी है
पूछता पुकार व्योम
धरती के धैर्य से
क्या न यह अनर्थ है
क्या न घोर पाप यह ?
किंतु पाप सत्ता के
हिंसक पुजारी की
दृष्टि में विचित्र एक

अर्थ - हीन शब्द है
वेदी पर सत्ता की
न्याय की न भेंट चढ़े
तो न वह सत्ता है
कोरा शब्द - जाल है
तप्तगृह बोल रहा
वही राजनीति है
जिसके आधार में
बसती प्रवंचना
कपट - काव्य जिसकी
सम्पूर्ण वर्णमाला है
जिसका अस्तित्व हो
कोरी विडम्बना ।

"बिम्बसार बन्दी है
साथ उनके रात - दिन
छाया - सी रहकर मैं
सेवा की शक्ति से
साधना - तपस्या से
अपने सोहाग को
रखती सुरक्षित थी
हाय, किंतु कोणक को
यह भी न मान्य है
ज्योंही उषःकाल की
फैलेगी लालिमा
यातना के दूत मुझे

आकर ले जायँगे
दूर बन्दीगृह से
कोणक के न्याय की
ऐसी ही आज्ञा !

"सोचती हूँ, होगा क्या
हाय, तब राजा का
गिरती - सी काया को
देगा सहारा कौन
और उनके अश्रु - कण
स्वेद - कण पोंछ कर
कौन देगा सान्त्वना
दुखिया के मन को
बन्दी पिता को कर
पुत्र शांति छीन ले
खेल यह भाग्य का !

"कोणक मनुष्य नहीं
पशु से भी नीच है
छीन लिया संबल—
सहारा अशक्त का
छीन विश्वास लिया
आशा, भरोसा भी
दुख से विदग्ध, व्यग्र
शाप - भरे जीवन का
छीन अधिकार लिया
नारी के जीवन का

छीन आधार लिया
पत्नी के तप का
आँसुओं में राजा के
बाँध वर्तमान को
कौन अब सुलावेगा
प्यार से अनागत को
भट्ठी - सी जलती हुई
लपटों में शून्य की
कौन अब····· ?"

इतने में
भोर का विहग उठा
बोल, नींद राजा की
टूट गई पल में
और वे पुकार उठे
रानी का नाम ले
किंतु देख रानी को
पास नहीं अपने
उठने लगे खाट से
कि दौड़ आई कुशला
और लिपट राजा के
चरणों में रो पड़ी
मानों हो रो रही
व्यथा विश्व - भर की
मानों पुकार सुन
क्लांत बलिदान की

रोती हो दीप - शिखा
मूक आत्म - यज्ञ की
और काल लिखता हो
मानव के अश्रु से
मानव - कलक-
कालिमा की कहानियाँ !

बाद कुछ देर जब
रानी के अश्रु रुके
बोली वह—"आज से
पास नही आपके
दासी रह पायगी
अपने ही रक्त की
बूझ नही पाती हूँ
प्रलय - भरी लालसा
जाने विश्व - धर्म ही
जाने युग - धर्म ही
जाने राज - धर्म ही
चाहता अजातशत्रु
खेल कौन खेलना !"

राजा अवाक् रहे
फूट पड़ी आँखों से
शून्य धार आँसू की
धुँधले रहस्य - से
एकटक रानी को

मौन रहे देखते
इतने में द्वार खुला
दूत आए सामने
मानों शरीर धर
कोणक का क्रूर और
निर्मम आदेश ही
आया हो सेवा के
दीप को बुझाने !

★

षष्ठ सर्ग

जीवन के शून्य ! तुम
इस विशाल विश्व में
सत्य एकमात्र हो
शून्य तप्तगृह का
प्रमाण इस बात का।
बीच गिरि-समूह के
बीच घोर निर्जन के
शून्य तप्तगृह का
है अतन्द्र अपने में
बन प्रतीक उस अखंड
अन्त - हीन शून्य का
जो कि व्याप्त आदि से
व्योम में, समीरण में
अग्नि में, पयोनिधि में
कण-कण में धरती के
और इन्ही पाँचों का
स्थूल रूप जीवन है।

अश्रु और हास यही
साथी दो जीवन के।
हास कभी जीवन को
सौरभ - विभोर कर
फूलों के स्वप्न से
करता सिंगार है;
और जब निष्ठुर वह
साथ छोड़ देता है
दीपक बन अश्रु तब
पथ दिखलाता है,
शीतल सनेह - भरे
स्पर्श से समस्त भार
हरता है दुःख का
दुर्दिन की रात में।

किंतु बिम्बसार आज
दूर बहुत दोनों से।
हास गया कुशला के
संग और अश्रु को
प्रतिपल जलाती है
आग तप्तगृह की।
शेष रहा शून्य एक
आज वही राजा के
साथ - साथ चलता है
पलकों में पलता है
निर्धूम जलता है
जैसे आकाश - पिण्ड

जलता है मंद-मंद
ध्वंसावशेष पर।
आज इसी शून्य को
पाल रहे बिम्बसार
प्राणों के कम्प में
पालता समुद्र ज्यों
बड़वाग्नि ही-तल में।
प्रिय है अतीव यह
साथी एकान्त का
जिसको मनुहारते
बिम्बसार साँसों से
गहरी उसाँसों से
पलकों की कोर से
हिय की हिलोर से।

और साथ उसको ले
घूम रहे चिंतन के
उस असीम लोक में
गत के मृदु छंद जहाँ
आगत के तार चूम
भरते अनागत की
वाणी में वेदना
आग और आँसू भी
भरते तूफान और
दह्यमान तेज - ताप
आग्नेय पर्वत का।

जाता है सूर्य चला
पार गिरि - माला के
क्लान्त-चरण । शेष हुई
राह एक दिन की ।
चारों ओर फैली है
कम्प - भरी लालिमा
मानों रण - क्षेत्र में
वीर निर्जीव पड़े
लाली लहू की लोल
अंचल ओढ़ाती हो ।
आती पवन श्रान्त
मुक्त वातायन से,
दूर तक फैले हुए
खेतों को लाँघ कर
साथ संदेश लिए
मिट्टी का मर्म - भरा
जिसकी हिलोर से
हिलती मलिन मूक
मिट्टी के दीपक की
करुण क्षीण वर्तिका ।

चिंतन की मुद्रा में
बैठे मगधराज
देखते अनेक चित्र
और फिर सोचते—
"श्रेणिय बिम्बसार

यौवन - मद में विभोर
एक दिन उमड़ा था
जैसे उमड़ता है
सिन्धु भीमनाद कर
शत सहस्र भीषण
उत्ताल लहरों को ले
एक दिन झंझा पर
दौड़ा था बिम्बसार,
एक दिन लपटों में
कूदा था बिम्बसार,
एक दिन यौवन के
तेज का प्रतीक वह
मृत्यु को चुनौती दे
आगे बढ़ा था और
लाया था गर्व से
बाँध कर विजय को।

"वह था प्रतिशोध
क्षेमवित की पराजय का,
सुभग शिलारोपण था
महान मगध - राज्य का
खण्डित अभिमान पर
गौरवमय अंग के।
हिंसा प्रतिशोध की
प्राण - शक्ति होती है,
और युद्ध - क्षेत्र में
बनती है चण्डिका।

तुष्ट तृप्त होती है
मानव के रक्त में
स्नान कर उमंग से।
जय का अभियान वह
बेसुध विभोर था
अंगवासियों का रक्त
पाकर वरदान में
और हुआ पूरा
नरमेध यज्ञ घोर वह
शीश गिरा कन्दुक - सा
कटकर जब भूमि पर
वीर ब्रह्मदत्त का
पूरा संकल्प हुआ
मेरा कठोरतम।

"हिंसा का नग्न रूप
देखकर विरक्ति हुई
मूल्य देख दुःख हुआ
मानव के रक्त का
किन्तु मिटी लिप्सा कब
राज्य के प्रसार की
चाह मिटी मन से कब
राजसी प्रभाव की?

"शाप - भरा लग्न वह—
और उसी लग्न की
अग्निमयी छाया में

आई प्रवंचना
वासना अतृप्त आई
नए रूप धरकर
छलने संसार को
और सोचा मैंने कि
प्रगट हुई भावना
पावन उदार एक
निर्मल बन्धुत्व की।
अतएव मंज्ञा दी
उसको दुलार की
प्यार की, सनेह की।
साक्षी विदेह, मद्र
तक्षशिला, वत्स और
साक्षी उज्जयिनी है
साक्षी वैशाली की
चित्रमयी कविता।

"हाय री प्रवंचने!
तेरे एक इंगित पर
नाचता मनुष्य है
बार - बार जीवन में
और यही क्लीबता
पृष्ठभूमि बननी है
पाप, अन्याय की
कलह, गृहदाह की
हत्या की, लूट की
धरती के वक्ष पर!

"कौन यहाँ माता है
पिता और पुत्र कौन
कौन यहाँ पत्नी है
और कौन मित्र है ?
यह समस्त दृश्य - लोक
सृष्टि कामना की है
जिसका प्रत्येक कण
रूप घृण्य स्वार्थ का
और बढ़ा आगे जो
कुचल निठुर पैरों से
स्वार्थ - भरी कामना
वासना की प्रेरणा
बुद्ध वही होता है
माया के विश्व में
उसकी ही जीत है
जीवन - संग्राम में
जीत वही लेता है
आगत, अनागत को।

"धन्य, धन्य गौतम वह
राजपुत्र प्रतिभामय
गौरव स्ववंश का
गौरव स्वदेश का
गौरव समष्टि का
सोई यशोधरा
रति का सौन्दर्य और
रूप चाँदनी का चारु

यौवन नदी का ले
मद ले वसंत का
वक्ष पर धरे हैं दो
कलश पूर्ण रस से।
राहुल पास सोया है
मानों आदि शक्ति की
स्नेह - भरी गोद में
सोया हो चन्द्रमा।
गौतम ने आँख - भर
देखा उस दृश्य को।
मोह बोला—'सत्य यही
जीवन का देख ले'
बोल उठी वासना—
'तेरी प्रतीक्षा में
व्याकुल हो सो गई
रति अलसाई - सी
होठों के प्याले की
वारुणी बुला रही
लहरें उठाने को
ऊर्म्मिल विलास की'
बोला संकल्प तब
'रोक मत चरणों को
अविचल पग आगे बढ़
ऊँचा न व्योम बहुत
शिखरों पर निर्भय चढ़
रश्मियाँ प्रकाश की

अम्बर से रहों कढ़
मुट्ठियों में भर ले
मानवता - मुकुट में
और उन्हें मढ़ दे।'

''पल - भर में गौतम ने
बन्धन सब तोड़ दिए
वैभव अपार छोड़
छोड़ सम्पत्ति - सुख
छोड़ राज - पाट और
साज सब विलास के
छोड़ रूप - स्नेहमयी
जीवन की संगिनी
राहुल - सा पुत्र छोड़
भटका वन - वन में
ग्राम - ग्राम नगर - नगर
दिवस - रात अविराम
पाने को एक कण
जीवन के सत्य का।
त्याग - बलिदान से
निष्ठा - संकल्प से
देख लिया मूल सत्य
जीवन का उसने
और उस सत्य की
साधना के पथ में
होम अस्तित्व दिया

ज्योतिर्मय अपना ।
गौतम नमस्य है,
गौतम प्रणम्य है,
गौतम है वन्दनीय !

"किंतु साम्राज्य की
लिप्सा का दास मैं
जितने कुकर्म किये
आज नाचते हैं सब
आँखों के सामने
मानों हों नाचते
प्रेत विविध रूप में ।
बेसुध विभोर रहा
वासना के रंग में
फिर भी न प्यास मिटी
तीव्रतम विलास की ।
जिसको बन्धुत्व कहा
वह था न शुद्ध प्रेम
प्रत्युत् वह रूप था
कुटिल एक लिप्सा का ।
बोलती प्रवंचना
आज वही ज्वाला में
शून्य तप्तगृह की ।
कहती है—"कोणक भी
मेरा पुजारी है
मेरे संकेत पर
वह भी है नाचता !"

बिम्बसार उछल पड़े
टूटी हुई खाट से
बढ़कर विक्षिप्त - सा
द्वार चाहा खोलना
जर्जर शरीर की
शेष सारी शक्ति से
लौटे पर हार कर
और लगे झाँकने
मुक्त वातायन मे।
सम्मुख था गृद्धकूट
गौतम के स्पर्श मे
पुलकित, पवित्र, पूत।
फैली थी ग्रीषम की
धूल - भरी चाँदनी,
छाया - सी लगती थी
सोई हुई नगरी,
किंतु नहीं छाया भी
दीख पड़ी कोणक के
प्रस्तर - प्रासाद की
बोले वे इतना ही—

"बहुत देर हो गई
बहुत दूर चला गया
कोणक अबोध - सा
हाय री प्रवंचने !"
और कुछ अश्रु - कण
आँखों से चू पड़े !!

सप्तम सर्ग

उदित हुआ अम्बर में
भासमान बाल - रवि
मानों कल्पान्त के
ध्वंसक अनल का
लाल-लाल गोला हो।
व्योम - प्रान्त भर गया
प्रखर ज्वाल - माला से
और लगा पिघल - पिघल
चक्रवाल जलने
भट्ठी की आँच से
शुष्क - काष्ठ - खण्ड ज्यों
धाँय - धाँय जलता।
लपटें लगीं फैलने
गिरने लगी दाह-भरे
नभ से चिनगारियाँ।
वन्ध्या की कोख - सी
सूखी थी धरती

झाड़ - झंखाड़ यत्र—
तत्र दीख पड़ते थे
फूल मुरझाए और
कलियाँ निर्जीव - सी ।
झंझा ने शीघ्र ही
सक्रिय सहयोग दिया
आग तब खमंडल की
लाँघकर क्षितिज - प्रांत
फैली भू - मंडल पर
भर गई दिशाएँ और
घोर हा - हा - रव से ।

तप्तगृह नरक बना
छप्पर, प्राचीर और
मिट्टी लगी जलने,
यातना कराह उठी
तड़प उठी पीड़ा भी;
किंतु बिम्बसार शांत
मानों संहार की
लपटों में बैठा हो
मौन कारुण्य का,
मानों विश्वास अटल
अविचल हो ध्यान - मग्न
सामने ही आँखों के
भाग्य-लिपि जलती हो !

पूछा बिम्बसार ने
अपनी ही साँसों से—

"मन्द-मन्द चलती क्यों
कल तो तू आँधी की
गति से भी तेज थी
चाहती थी तोड़ना
लौह - द्वार स्पंदन से
किंतु नैराश्य लगा
हाथ । उधर हँसती थी
दारुण अभिशाप - भरी
निष्ठुर प्रवंचना !
मन्द - मन्द चलती तू
होता प्रतीत मुझे
पहुँच गया तेरा
संदेश पास कोणक के
तू ही तो तार है
आत्मा की बीन का ।
होता प्रतीत मुझे
तेरी झंकार यह
निश्चय ही कोणक ने
सुन ली है दूर से,
तेरे सन्देश का
आग्रह न टालेगा,
कोणक महान है,
पल-भर में लोटेगी
ठोकर की चोट से
भूमि पर प्रवंचना,
पल - भर में राज-नीति

हारकर झुकायेगी
गर्वयुक्त शीश निज
करुणा के सामने।
बोल, एक बार बोल,
साँस मेरे हिय की,
क्या न यह सत्य है ?''

सुनती थी पास ही
छिपकर प्रवंचना,
बोल उठी सहसा वह
क्रूर अट्टहास कर
''करुणा का नाम है
वस्तुतः कदर्यता
और हीन - वीर्य ही
करते हैं विश्व में
उसकी आराधना
उसकी अभ्यर्थना।
राजनीति जीवन को
आगे बढ़ाती है,
धोकर मनुष्य के
निष्प्रभ विचारों को
अपने अंगार से
उनको चमकाती है,
एक राजनीति ही
जीवित रही क्षेत्र में
करुणा तो पौरुष के
सपनों का शव है

पूर्ण दुर्गन्ध से;
और इस शव को
देती फेंक गर्व से
ज्वाला में राजनीति,
शेष अस्थिमात्र ही
रहता है अन्त में
जिसपर मड़लाते हैं
गीध और कौए !
धर्म, नीति, ज्ञान और
दर्शन की गुत्थियाँ
क्लीब सुलझाते हैं
कोणक तो वीर है।"

चक्र - सा घूम गया
आँखों के सामने,
किंतु बिम्बसार रहे
शान्त पूर्ववत् ही,
इतने में द्वार खुला
और राजनापित आ
हाथ जोड़ खड़ा हुआ
थर - थर - थर काँपता।
देखा बिम्बसार ने
एक बार उसको
एक बार देखा फिर
बधिर लौह - द्वार को
खुलकर जो बन्द हुआ

पहले - सा पल में।
सोचा नरेश ने—
"किसका है रूप यह
छद्म - वेश धारण कर
आया है कौन यह
राजनीति - राक्षसी
द्वेष या प्रवंचना
या कि है करुणा का
अश्रु मूर्तिमान यह ?"

शून्य तप्तगृह का
हो गया भयावना,
साँसें दो चलती थीं
एक उस नापित की
और एक राजा की;
किंतु गति दोनों की
भिन्न थी बहुत ही।
नापित की साँसों में
झंझा थी दौड़ती
स्पंदन के वेग से
तप्तगृह हिलता था
और साँस राजा की
मन्द - मन्द चलती थी
चलती है जिस प्रकार
आयु काल - पथ पर।

देख गंभीर, मौन,
शांत बिम्बसार को
नापित यों बोल उठा
अति विनम्र स्वर में—
"सम्मुख श्रीमान के
आया हूँ आज मैं
आता अभिशाप ज्यों
जीवन के पथ में
रौरव का रूप धर
दुर्दिन की रात में
आता है ध्वान्त ज्यों
मयंक को मिटाने।
कायर के तर्क को
क्लीब के विकल्प को
क्षम्य कौन कहता ?
फिर भी उपस्थित मैं
सम्मुख श्रीमान के
जाने किस शक्ति की
यह विचित्र प्रेरणा ?"

"तप्तगृह स्वागत का
कोई स्थान नहीं
ताप इस ठौर है
ज्वाला है, दाह है,
लपटें हैं लू की
यातना है यम की
फिर भी मनुष्य मैं

तुम भी मनुष्य हो
अतएव स्वागत है
बोलो, आदेश क्या ?"
पूछा बिम्बसार ने
पूछता है जैसे
आँधी से, आने का
कारण प्रकम्प - भरा
मिट्टी का दीप लघु
'लौ' के स्वरों में।

नापित की आँखों से
अश्रु लगे बहने
और कहा राजा से
उत्तर में उसने—
"होता यदि मूक मैं
याकि जीभ जाती कट
तो मैं सराहता
भाग्य आज अपना।
एक ओर आग्रह के
आँसू - सी भावमयी
सामने खड़ी है दीन
कातर मनुष्यता,
एक ओर बार - बार
आँखें गुरेरता
हिंसक के क्रोध - सा
भय कठोर शासन का

बीच में खड़ा है क्लीब
दास·····"

द्रुत खेल गई
नीरस मुस्कान एक
सौम्य मुख - मंडल पर
बन्दी नरेश के
और उठे बोल वे
बात काट नापित की
"शासन कल्याणमय
होता कठोर ही
निर्भय हो शीघ्र करो
पालन कर्तव्य का
क्या है आदेश महा-
महिम मगधराज का ?"

गहरी उसाँस ले
नापित लगा कहने—
"अतिशय कठोर और
निर्मम आदेश है
पैरों को आपके
पहले है चीरना
और जब पीड़ा की
टीस उठे घाव में
लौन भर उसमें तब
भरना अंगार है !
आज्ञा न शासन की

आज्ञा न न्याय की
बल का नृशंस यह
दुर्दम हुंकार है।
पूजा जिन हाथों ने
इन पवित्र चरणों को
वे ही प्रहार करें
किस प्रकार उनपर?
जिसकी कृपा के दो-
चार कण बटोर कर
जीवन को आज तक
ढोता रहा जग में
कैसे बहाऊँ मैं
रक्त उस महान का?"

बिम्बसार स्तब्ध रहे
कुटिल खेल देखकर
सत्ता के जादू का;
स्तब्ध रहे देखकर
नग्न नारकीय नृत्य
मानव के भीतर की
दानवी प्रवृत्ति का।
देखा लौह-द्वार को
और देखा नापित को,
देखा फिर आँख फाड़
भावी का रूप भी
लपटों के बीच जो
द्रव-सा था जलता।

रंचक भी किंतु नहीं
व्याकुल नरेश हुए,
सोचा कि चलता था
खेल लोमहर्षक जो
मंच पर मगध के
उसका दृश्यान्त अब
आ गया समीप है,
पटाक्षेप होने की
वेला भी आ गई !

ठीक तभी बोल उठी
फिर वह प्रवंचना—
"मानव का रक्त ही
काव्य राजनीति का,
लिखती हूँ जिसको मैं
सत्ता के पट पर;
युग के बदलने का
आता मुहूर्त्त जब
उसमें तब विस्फुलिंग
भरती हूँ मैं ही।"

वन्दी नरेश ने
आगे बढ़ थाम लिया
हाथ राजनापित का
करुणामय प्रेम से
और उठे बोल

गंभीर धीर स्वर में—
"कल के मगधराज
आज राजबन्दी हैं
फिर भी प्रसन्न हैं
क्योंकि आदेश यही
न्याय यही शासन का।
प्रश्न जब समष्टि का
प्रश्न जब समूह का
प्रश्न जब स्वदेश का
सम्मुख उपस्थित हो
व्यक्ति का विचार तब
अनुचित ही होगा।
मेरे देहान्त में
सुभग रूप भावी का
मंगल स्वदेश का
देखते मगधराज
अतएव तथ्य - हीन
निर्णय न उनका।
मंगल हो मगध का
और मगधराज का,
नापित! न भूलो तुम
पालन कर्तव्य का
परम धर्म होता है;
बन्दी तैयार है
चीरा लगाओ तुम
पैरों में मेरे।"

और बाद इसके
काण्ड वह घोर हुआ
जिसके उल्लेख से
पृष्ठ इतिहास के
काले हैं आज तक,
जिसकी उत्ताप - भरी
स्मृति की कचोट से
उठतीं कराह गिरि-
पंक्तियाँ उदास और
बसती उजाड़ - सी
भग्न राजगृह की !

बिम्बसार बैठे थे
मानों बुद्ध बैठे हों
भूल संसार को
लीन अटल ध्यान में,
होती विकीर्ण थीं
किरनें प्रकाश की
उनके प्रशान्त, सौम्य,
दीप्त मुख - मंडल से।
काँपते थे वज्र - से
निठुर हाथ नापित के,
किंतु काम करता था
लौह - यंत्र शल्य का।
बहती थी रक्त - धार
पी - पीकर भूमि जिसे
प्यास निज बुझाती थी,

चलता था हाथ और
लौह - यंत्र चलता था
गिरते थे मांस के
कट - कट कर टुकड़े
दाँतों को यद्यपि
नरेश थे दबाए
तो भी कराह और
आह निकल जाती थी
काँप - काँप उठता था
शून्य तप्तगृह का !

और जब यंत्र रुका
सुलग उठी एक ओर
नापित की साँस से
आग सर्वनाश की;
मानों रूप धारण कर
आई हो यातना
जीभ निज निकाले
हड्डियों के रक्त को
चाटने उमंग से !

चीरना समाप्त हुआ
व्रण में तब लौन भर
भरने अंगार लगे
क्रूर कर नापित के !
वक्ष तान, साँसों को
रोक लिया नप ने.

नसें लगीं फूलने
फूलतीं शिराएँ ज्यों
आग्नेय पर्वत की
पहले विस्फोट के;
नेत्र लाल हो गए
मानों अवशेष रक्त
सारे शरीर का
छाँह में पुतलियों की
केन्द्रित हुआ हो जा।

लौन की जलन तीव्र
पीड़ा का ताप और
ताप निठुर ग्रीष्म का
ताप तप्त अग्नि का
हो उठा असह्य और
भीषण चीत्कार कर
बिम्बसार लोट गए
मूर्च्छित हो भूमि पर!

हाय, री प्रवंचने,!
सत्ता की लिप्सा का
कैसा कठोर रूप
तूने बनाया है
और स्वयं कितनी तू
प्यासी है रक्त की!
सत्ता के प्यार की
साँसों में नाश की

भट्ठी बन रात-दिन
जलती तू नरक-सी,
स्वार्थ के पिशाच की
तू वह कुटिल शक्ति
नागिन-सी जो कहीं
विष है उगलती,
और कहीं हिंसा का
चक्र है चलाती ;
रुकती गति जीवन की
किंतु नहीं तेरी गति
रुकती है विश्व में !

★

अष्टम सर्ग

दिन - भर की धूल और
धुक्कड़ का अन्त हुआ
शांत हुआ उग्र ताप
ज्वालामय सूर्य का
शांत हुआ रौद्र रूप
भीषण प्रभंजन का
किंतु निस्सीम शून्य
तब भी था गूँज रहा
श्री - विहीन धरती के
घोर हा - हा - रव से
तप्तगिरि - पुंज की
वेगमयी साँसों से
काँप - काँप उठता था
दिग्दिगन्त बार - बार

पलकों की कोर
अश्रु का पराग लिए
साँझ आई धीरे से

आती ज्यों मन्द - चरण
सजला सहानुभूति
मन के करुण - शून्य
शांत रंगमंच पर
और डाल हल्की - सी
चादर तमिस्र की
मूर्च्छिता धरित्री के
धूसरित शरीर पर
लौट गई सपनों की
याद - सी सुहावनी !

सृष्टि का स्वभाव यही
आती सहानुभूति
रुकने एक पल को
और लौट जाती है
छोड़ दग्ध प्राणों की
पीर को कराहते !

सन्ध्या के जाने पर
उदित हुआ अम्बर के
कोने में चन्द्रमा
कोमल - कलित - कान्त
स्नेह के प्रकाश से
उज्ज्वल - सजल - स्निग्ध
करुणा की रश्मि से ।
खोलकर अनन्त का
रहस्य - द्वार प्रकट हुई

चाँदनी सितानना
जैसे रोक प्राणों की
पीड़ा के ज्वार को
लुटते सुहाग के
पास बैठ जाती है
आकर अधीर - सी
कोई सुहागिनी !

देकर पीयूष - पात्र
चाँदनी के कर में
इन्दु लगा शीतल जल
अविरल बरसाने
आतप के ताप से
तप्त कण - कण में ।

पाकर नवीन शक्ति
जाग उठी मूर्च्छा से
आग - भरे पथ की
सुहाग - भरी आशा
राग - भरे क्षण की
पराग - भरी भाषा
शेष अभिलाषा
विदग्ध अनुराग की
जाग उठा धरती के
पुलकों का गीत और
जाग उठा मूर्च्छित
अतीत वर्तमान के

अंतिम स्नेह की
क्षीणतम पुकार से।

धन्य है सहस्र बार
नभ का मयंक वह
बहुत दूर धरती से
बहुत दूर दुनिया से
फिर भी बरसाता है
अमृत - बूँद पीड़ित के
टीस - भरे घाव पर
मानव जब दानव की
मूर्ति बन जाता है!
धन्य है मयंक वह
और धिक् मानव को
आड़ में कला की हाय!
राहु को बुलाता जो
ग्रसने को चाँद वही!
कैसी जघन्य है
स्वार्थी मनुष्य की
हिंसक प्रवंचना!
कैसी जघन्य यह
शोणित की प्यास है!

क्रूर कार्य अपना कर
नापित चला गया
मूर्च्छित नरेश के
निर्बल शरीर को

छोड़ उस नरक के
जलते - से अंक में ।
आया शीतांशु तब
जिसके मयूखों की
पीयूष - धार से
शांत हुआ तप्तगृह
जननी की गोद-सा;
साथ शर्वरीश के
आई सुहागिनी
आँसू के दीप बाल
लुटते सुहाग की
आरती उतारने !

शीतल सनेह की
सुशीतल हिलोर से
लौट आई एक बार
प्रज्ञा नरेश की
और खोल नेत्र वे
देखने समौन लगे
मिटती - सी याद के
क्षीण आलोक में ।

सम्मुख दीवार थी
पत्थर की भीमकाय
जिससे टकराते थे
शून्य दृग उनके
मानों थे खोज रहे

कोई अशेष पथ
शेष पथ पारकर।
बैठी थी पार्श्व में
कुशला विषाद की
निर्निमेष रेखा - सी,
मानों हो भोर के
सपने की याद में
बैठी विभावरी
और फूल झड़ते हों
नयनों से, झड़ते ज्यों
सौ - सौ शिशिर - कण
व्योम - तरु - पत्र से !
अश्रु या कि मुक्ताहल
एक दिन मूल्य लगा
जिनका न विश्व में
बहते थे धूल में
ठोकर से चूर हो !

पति की कराह सुन
कुशला सँभाल सकी
ज्वार को न मन के
बोल उठी उग्रतम
स्वर में उन्माद के—
"आती हुई आँधी की
गति को सँभालूंगी,
बुझने न दूँगी मैं
सूर्य को मगध के

आततायी कोणक का
खेल यह असह्य है
है असह्य दुरभिसंधि
दुष्ट देवदत्त की।
मेरा ही रक्त आज
आग सर्वनाश की
चारों ओर फूँकता,
लेती हूँ शपथ मैं
एक घूँट में ही तो
उसको पी डालूँगी।

"देवदत्त चाहता है
रक्त बोधिसत्त्व का,
रक्त निज पिता का है
चाहता अजातशत्रु।
मैं भी चाहती हूँ रक्त
कोणक का, क्या हुआ
यदि है उत्पन्न वह
मेरी ही कोख से?
शोणित का शोणित से
जाता चुकाया है
मूल्य इस जग में।
मेरी पुकार सुन
आज राजगृह की
मिट्टी नहायेगी
शोणित में कोणक के
और भर अंजलि में

रक्त देवदत्त का
पूजूंगी आदर से
चरण बोधिसत्त्व के।"

बोले बड़े कष्ट से
बन्दी नरेश तब—
"रक्त - पात,
हिंसा का व्रत जघन्य
पातक महान है;
उसपर भी रक्त - पात
अपने ही पुत्र का।
सोच सकीं कैसे तुम
बात यह मन में?
प्यार किया जिसको
दुलार किया झूम - झूम
ममता के रंग में,
वाणी में अस्फुट निज
माता कह बार - बार
जिसने अनजान - सा
झोर - झकझोर दिया
प्राणों के तार को,
भूमि से उठाकर तुम्हें
जिसने सुस्थान दिया
प्रथम - प्रथम गौरव का,
आज उसी बेटे का
सोचती अनिष्ट तुम?

"और यह किसलिए ?
चाहते प्रचार नहीं
हिंसा का बोधिसत्त्व,
उनको तो सृष्टि का
प्राणिमात्र प्रिय है।
राज्य की न चाह मुझे,
राज्य की न चाह तुम्हें,
राज्य तो इसी प्रकार
बनता है, मिटता है,
कोणक को प्यास है
सत्ता की, जाने दो
प्यास यह एक दिन
स्वयं मिट जायगी !"

कुशला के क्रोध का
ताप पूर्ववत् था।
बोली वह—"ठीक है
राज्य की न चाह हमें,
कोणक को आपने
राज्य किया अर्पण है
फिर भी वह रक्त क्यों
चाहता नरेश का
करता इतिहास क्यों
कलंकित मगध का ?"

पीड़ा से चीख कर
उत्तर दिया नृप ने—

"बात मत उठाओ तुम
मागध साम्राज्य के
महान इतिहास की;
मगध भाग्यशाली है
क्योंकि वह बुद्ध की
छाया में पलता है,
क्योंकि महावीर के
सनेह का अशेष दान
पाकर प्रकाशपूर्ण
दीपक - सा जलता है;
युग - युग के अंक में
उसका अमिट चिह्न
और अधिकारी वह
अक्षय सुकीर्ति का।

"राज्य-क्रांति परिणति है
कतिपय घटनाओं की
जिनका सम्बन्ध हुआ
करना समाज से
और उन नियमों से
जिनसे समाज का
होता संचालन है।
किंतु जब विकृत कर
उसके स्वरूप को
फैलतीं कुरीतियाँ
दुर्दम प्रवृत्तियाँ
नियमों से उसके जब

लगती निकलने है
भीषण दुर्गन्ध तब
आती है राज्य - क्रांति ।

"मैंने समाज की
सेवा की कौन - सी ?
संकट हो, क्लेश हो
दुःख हो, अशांति हो,
मैंने समाज को
पुकारा कब प्रेम से
मैंने समाज के
आँसू का मोल दिया
आँसू कब अपना ?

"बोधिसत्त्व नेता हैं
ऐसे ही युग के;
और देवदत्त है
निष्ठुर प्रतीक उस
भीषण दुर्गन्ध का
जिससे समाज की
प्राण - वायु व्याकुल है ।
बोधिसत्त्व साधक हैं
देवदत्त बाधक है
जीवन में स्वार्थ और
हिंसा को साथ ले
बढ़ने को व्यग्र है ;

हाथों में कोणक है
ढाल बन उसके !''

कुशला अडिग रही
बोली सरोष वह—
''यह तो विरोध नहीं
यह तो प्रतिरोध नहीं
यह तो समर्पण है !
मेरे विचार में
हिंसा ही एकमात्र
उत्तर है हिंसा का ।''

बिम्बसार खोये - से
मौन कुछ देर रहे,
शक्ति हुई जाती थी
क्षीण प्रत्येक क्षण,
पीड़ा असह्य थी
उनके शरीर में,
रह - रह कर आह निकल
आती थी गहरी,
किंतु स्वर पहले - सा
उनका गंभीर था,
और इसी स्वर में
पुनः लगे बोलने—
''प्रतिशोध अस्त्र है
कायरों का जान लो,
हिंसा की आग से

तुम न रोक सकती हो
आना राज्य - क्रान्ति का।
वह तो विपथगा है
आती इसी भाँति है,
और जब आती है
लेती बलिदान है
स्नान कर रक्त में।
कोणक की राज्य - क्रांति
माँगती पुकार कर
दान मेरे रक्त का,
प्रस्तुत हूँ मैं सहर्ष
भेंट यह देने को!"

गहरी - सी सिसकी फिर,
चीख एक भारी - सी,
और बिम्बसार घोर
मूर्च्छा में खो गए!
कुशला विक्षिप्ता - सी
लिपट गई व्याकुल हो
राजा के कंठ से
और लगी हरिणी - सी
हेरने, निहारने!
घोरातिघोर भय
आँखों में व्याप्त था
सृष्टि लगी दीखने
मरघट के शून्य - सी!

इतने में द्वार खुला
भीतर भय - भीत - सा
आया पहरुआ
किन्तु नहीं बोला कुछ
नीचा कर आँखों को
स्तब्ध रहा एकदम
मानों हो आग लगी
करुणा के रूप में
और हो विषाद खड़ा
कायर - सा सामने
प्राणों में भय ले !

रोती थी कुशला
आँखों से आँसू का
अविरल जल बहता था
और हाथ उसके थे
शीश बिम्बसार का
फूल - सा सँभाले
बिखरे न हाय ! कहीं
कोमल पंखुरियाँ !!

मूर्च्छित नरेश ने
आँखें फिर खोल दीं
कुशला उन आँखों में
आँखें निज डालकर
स्तब्ध रही देखती
देखती है जिस भाँति

डूबते दिनेश को
खोई - सी धरती !

रुक-रुक कर और बहुत
धीमी आवाज में
बोल उठे बिम्बसार—
"यातना अशेष यह
शेष अब हो रही
क्योंकि शेष हो चली
यात्रा इस देश की !
सामने खड़ी हो तुम
नारी के रूप में;
व्याकुल हो क्योंकि साथ
पति का है छूटता
लक्ष - लक्ष भावों को
बाँधती हो साँस में,
क्योंकि आ गया समीप
पति की बिदाई का
क्षण अदृश्य - पथ से ।

"रूप है तुम्हारा किंतु
एक और दूसरा
जिसको तुम भूल गई
आज उन्माद में ।
माता का रूप वह
जननी का रूप वह

चिर से कल्याणमय
जननी के स्नेह से
सृष्टि सारी चलती
जननी के उर में जब
आग प्रतिहिंसा की
जलती है क्रोध से
सर्वनाश होता तब
क्षण में संसार का !

"कोणक के जीवन का
उज्ज्वल भविष्य हो
साधना इसी की
कर्त्तव्य हो तुम्हारा।
राष्ट्र के भविष्य की
लक्ष - लक्ष सुन्दरतम
आशाएँ फूल - सी
असमय ही सूखतीं
होता तुषार - पात
उनपर जब स्वार्थ का।
अपने सनेह का
अंचल पसार दो
उनपर, भविष्य यही
चाहता स्वदेश का।

"जय हो तथागत की
जो मनुष्य - मात्र को
मानते समान हैं

जय हो मगध की
जिस पर तथागत का
पुण्य - वरद - हस्त है !''

अकस्मात् मिट्टी का
दीपक जो पास ही
जलता था, बुझ गया
झोंका समीर का
जाने किस ओर से
आया कठोर एक
और वह तप्तगृह
अपने कलंक की
कालिख में डूबा - सा
मौन रहा देखता !!

नवम सर्ग

देखा बिम्बसार में
भिक्षु देवदत्त ने
रूप साम्राज्य के
विस्तृत विस्तार का
देखा रूप सत्ता के
मादक शृंगार का
देखा न किन्तु हाय,
मानव का रूप वह
जो कि मन-प्राणों में
सत्तारूढ़ नृप के
दिन-रात, प्रति क्षण-पल
जलता था दीप बन
ज्योतिर्मय ज्ञान का
देखा न रूप वह
मानव का त्यागमय
मौन उत्सर्ग ही
जिसका इतिहास है:

करुणा से पूर्ण और
शांत क्षमा - सिन्धु - सा
और यही दृष्टि दी
भिक्षु से प्रवंचक बन
कोणक को उसने
जिसके प्रभाव की
कालिख में स्नान कर
पुत्र बना द्रोही
कठोर पितृ - हन्ता !

किंतु बिम्बसार ने
देखा कुछ और ही
देखा कि मानव के
भावों की भूमि पर
चक्र परिवर्तन का
चलता है वेग से
सूर्य - चन्द्र - तारे सब
रोक - रोक हारे सब
घोर घर्घर - रव से
काँपता अनन्त भी
उन्नत क्षितिज के
समुन्नत ललाट पर
रक्त - चिह्न अंकित हैं
वस्त्र पर दिशाओं के
रक्त - चिह्न अंकित हैं
रक्त-चिह्न सब ओर
चक्र परिवर्तन का

चलता है वेग से
मिटता अतीत है
मिटता अतीत का
गर्व उसी वेग से
और खड़ा सम्मुख है
वर्त्तमान वक्ष तान
मानों हो क्रोध खड़ा
सैन्य - शक्ति सारी ले
साथ अहंकार के।

देखा बिम्बसार ने
और वे समर्पण के
निस्पृह अनुराग - से
आतुर हो बुद्ध की
करुणा के तेज में
मौन - मंत्र - मुग्ध लगे
प्रेम से पिघलने
जितने कण रक्त के
उनके शरीर से
निकल गिरे धरती पर
उतनी ही बार कहा
मन - ही - मन नृप ने—
"कोणक जान लेता हाय,
होता पुत्र - प्रेम क्या !"
और यही बोलकर
साँस रुकी धीरे से
रुकती जिस भाँति है

पुकार अति दूर की
असंख्य बार गूँजकर !

आँखों की ज्योति का
प्राणों के प्यार का
एक मात्र पुत्र ही
होता आधार है
जीवन के शून्य में
गीत की तरंग वही
प्रतिपल उठाता है
वंशी - सा बोलकर
डोलकर जगाता है
सारे भविष्य को
स्नेही पिता के मुग्ध
भावों के मौन में
आशा, उमंग वही
अरुणिम उल्लास भी
करुणा का उत्स वही
बल भी, विश्वास भी !

एक वही वैभव है
धन है बस एक वही
जिसपर समान प्रेम
होता है सबका
चाहे वह राजा हो
चाहे वह रंक हो !
पुत्र - प्रेम जादू है

चलता है वेग से
मिटता अतीत है
मिटता अतीत का
गर्व उसी वेग से
और खड़ा सम्मुख है
वर्त्तमान वक्ष तान
मानों हो क्रोध खड़ा
सैन्य - शक्ति सारी ले
साथ अहंकार के।

देखा बिम्बसार ने
और वे समर्पण के
निस्पृह अनुराग - से
आतुर हो बुद्ध की
करुणा के तेज में
मौन - मंत्र - मुग्ध लगे
प्रेम से पिघलने
जितने कण रक्त के
उनके शरीर से
निकल गिरे धरती पर
उतनी ही बार कहा
मन - ही - मन नृप ने—
"कोणक जान लेता हाय,
होता पुत्र - प्रेम क्या !"
और यही बोलकर
साँस रुकी धीरे से
रुकती जिस भाँति है

पुकार अति दूर की
असंख्य बार गूँजकर !

आँखों की ज्योति का
प्राणों के प्यार का
एक मात्र पुत्र ही
होता आधार है
जीवन के शून्य में
गीत की तरंग वही
प्रतिपल उठाता है
वंशी - सा बोलकर
डोलकर जगाता है
सारे भविष्य को
स्नेही पिता के मुग्ध
भावों के मौन में
आशा, उमंग वही
अरुणिम उल्लास भी
करुणा का उत्स वही
बल भी, विश्वास भी !

एक वही वैभव है
धन है बस एक वही
जिसपर समान प्रेम
होता है सबका
चाहे वह राजा हो
चाहे वह रंक हो !
पुत्र - प्रेम जादू है

टोना है या कि वह
जाने विधाता ही
दुर्बल मनुष्य तो
पाकर इस प्यार को
सारे संसार को
ईश्वर को भूलता
भूलता अदृष्ट की
सारी प्रतिकूलता।
और यह प्रकृति का
नियम भी विचित्र - सा
अपनी अपूर्ण
अभिलाषा को साथ ले
साथ ले अपूर्ण प्यार
आता है धरती पर
पिता पुत्र बनकर।

उस ओर कारा में
प्राण बिम्बसार के
निकले शरीर से
इस ओर राज - भवन
गूँज उठा बार - बार
स्वागत के गीत और
मंगल - मँजीर से।
किरणों की डोर से
अथवा समीर से
या कि किसी स्नेहमयी
करुणा की आँखों के

अमल - धवल नीर से
उतरा शरीर धर
कोणक का पुत्र बन
नन्हा - सा प्राण एक ।

पाया संवाद जब
कोणक ने हर्ष - भरा
उमड़ पड़ी बाँध तोड़
उसके आनन्द की
उन्मद समुद्र - धार
पुलकित कर, प्लावित कर
बार - बार, शत बार
मन - प्राण, रोम - रोम,
रंध्र - रंध्र भावों के
सुविपुल विस्तार का
कण - कण पुकार का
ताप - भरे जीवन की ।

वेसुध हो झूम उठा
कोणक उमंग से
उठता है झूम ज्यों
ग्रीष्म का प्रचण्ड व्योम
पागल आषाढ़ के
पहले पयोद की
पहली फुहार से
पहले दुलार से
वर्षा - वधूटी के ।

मागध - साम्राज्य को
पाकर भी एक बार
कोणक था हर्ष से
नाच उठा ऐसे ही
किंतु वह हर्ष था
भिन्न इस हर्ष से
उसमें अभिमान था
इसमें था स्नेह - कम्प
उसमें औद्धत्य था
मरु के प्रकोप का
इसमें रस - धार थी
ममता के मर्म की
उसमें थी आग - भरी
क्रूरता, कठोरता
इसमें पराग - भरी
मृदुता थी मोह की
उसमें उल्लास था
प्रभुता के मद का
इसमें था हेम - हास
आँसू के सुख का
उसमें था अट्टहास
इसमें मुस्कान थी
उसमें था विस्मरण
इसमें पहचान थी
भीषण विद्रोह था
उसमें व्यक्तित्व का

इसमें अपनापन था
स्वर्ग अपनापन का
उसमें अंगार था
इसमे पीयूष था
उसमें था उग्र ताप
इसमें थी चाँदनी !

प्रथम - प्रथम कोणक को
ऐसा प्रतीत हुआ
मानों एक नन्ही - सी
जाग रही क्रान्ति हो
और किसी कोने में
गगन - मगन - मन के
उगता हो पूनम का
नन्हा - सा चन्द्रमा !
ऐसा प्रतीत हुआ
मानों समस्त गर्व
सारी कठोरता
पत्थर - से हिय की
बनती हो मन्द - मन्द
मधुर - मधुर रागिणी
और वह संज्ञा को
अपनी विसार कर
सुनता हो जीवन के
तट पर अनन्त के
बीच अनजान - सा

सुनता हो केवल वह
और वह रागिणी
शत - सहस्र लहरों में
अपने को बाँट कर
बढ़ती हो सब ओर !

कोणक ने प्रश्न किया—
"किसका आह्वान यह
किसके सम्मोहन का
मृदु - मृदु प्रभाव यह
आज एक विश्व नया
खुलता है मन में
जिस प्रकार खुलता है
कोमलतम पुष्प - दल
सारा वसंत ले
मधु की उमंगमयी
एक ही तरंग में
फूट रही एक नई
ज्योति आज मानस में
नस - नस में एक नई
उठती हिलोर है
साँसें मनुहारमयी
बनती झंकार और
आँखें अनुरागमयी
बनती त्योहार हैं
कैसा परिवर्तन है ?"

धीरे से बोल उठी
कोणक की आत्मा—
रक्त की पुकार यह,
और इस पुकार को
सुनते हो आज तुम
प्रथम - प्रथम जीवन में ।
सब-कुछ था प्राप्त तुम्हें—
पौरुष, प्रभाव, यश,
गौरव, प्रभुत्व - मद
किंतु था अभाव एक
बैठा अनजान - सा
जीवन के बीच कहीं ।
आज किरण - वेला में
उसकी ही पूर्ति हुई
और यही पूर्ति तुम्हें
प्रतिपल पुकारती
धारण शरीर कर ।
बन्धु थे, सखा थे तुम,
पुत्र और स्वामी थे,
शासक - सम्राट थे,
किन्तु थे न पुत्रवान !
नीरव अभाव यही
अबतक था बोल रहा
भिन्न - भिन्न स्वर में
उद्धत - सा, निर्मम - सा
अकरुण - सा, रक्तप - सा

क्रूर अहंकार - सा
और निर्बन्ध - सा
आज वह रिक्तता
रिक्त नहीं ईषत् भी
मेरे ही अंश से
भरकर वह दीखती
सब प्रकार परिपूर्ण।
बनकर आलोक - पिण्ड
जिसमें है कौंधता
रक्त - कण तुम्हारा ही
उतरी हूँ मैं ही तो
छूने तुम्हारे उर—
तारों को स्वर्णमयी
ममता की रश्मि से
व्यर्थ सोचते हो क्या
बैठ इस शून्य में?
रानी उस ठौर राह
देखती तुम्हारी है
माता के दूध - भरे
अंचल को स्नेह से
मुझपर पसार कर
एक दिन उठाया था
तुमने भी ऐसा ही
ज्वार बिम्बसार के
उर में उमंग - भरे
उत्सव की धूम वह

वैभव वह, भूल गये ?
बोलो फिर किस प्रकार
प्यार तुम लुटाओगे
मेरे नये रूप पर ?''

कोणक गंभीर हुआ
बैठ गया व्याकुल हो
मानस - आवेग से
आँखों में अश्रु लगे
मेघ - से उमड़ने
हाथों से ढँक कर तब
मुख को न जाने क्यों
भावों का वेग लगा
आहों से बाँधने !

दशम सर्ग

कोणक से मिलने में
प्रतिबन्ध कोई भी
था न देवदत्त पर।
छूट प्राप्त उसको थी
भीतर प्रासाद के
सर्वत्र जाने की।
ऐसा प्रभाव था
कोणक पर उसका।

लेकर आधार इसी
आज्ञा का भिक्षु गया
कोणक जिस ठौर था
लीन आत्म - ग्लानि में।
अँटता न हर्ष था
उसके मन - प्राण में
भावों के नृत्य से
रोम - रोम पुलकित था,
साँस - साँस झंकृत थी,

आँखों की राह से
जीत कढ़ी आती थी
क्रूर उन्मादिनी
जिसकी भयावनी
छाँह, मुस्कान की
रेखा बन हिलती थी
बार - बार होठों पर !

सचमुच थी जीत हुई
भिक्षु के कुचक्र की
जीत हुई भारी थी
उसके षड्यंत्र की
और इस जीत के
रक्त - भरे चरणों के
नीचे था लोट रही
देह बिम्बसार की
ज्वाला में क्षार हो
क्रूर तप्त - गृह की !

जीत यह भारी थी
जिसके आधार में
बैठी थी भिक्षु की
कुटिला कुमंत्रणा
जिसका प्रत्येक कण
मद-कल मद-विह्वल था
जिसकी सम्पूर्ण कथा
गुंजित थी चीख से

स्पंदित थी पीड़ित के
गहरे उच्छ्वास से
जिसका प्रत्येक वर्ण
लोहित था रक्त से
टपका जो भूमि पर
हिंसा की जीभ से !
और इसी जीत का
लेकर संदेश वह
कोणक के पास था
पहुँचा उमंग से
था न पुत्र - जन्म का
वैसा महत्त्व कुछ
उसके विचार में ।

ग्लानि - भरे कोणक ने
शीश जब उठाया निज
लाल - लाल आँखें थीं
दीख रहे जिनमें थे
अश्रु - कण लज्जित - से
व्यग्र ढुलक जाने को
किंतु रुके जाने क्यों
जाने थी कौन - सी
कैसी विवशता !

सम्मुख था भिक्षु खड़ा
दृष्टि पड़ी उसपर जब
कोणक की, कल्पना

सिहर उठी, भावों की
देख प्रतिद्वन्द्विता।

आँखों में भिक्षु की
हिंसक उन्माद था
लपटें ले आग की
कोणक की आँखों में
नीरव विषाद था
जिनमें न ज्योति थी
चमक थी न ईषत् भी।

रक्तप उल्लास था
आँखों में भिक्षु की
गहरा उच्छ्वास था
मूर्च्छित - सा कोणक की
आँखों की कोर में!

दम्भी दुस्साहस था
आँखों में भिक्षु की
अपने में ऐंठा - सा
और उफनाता - सा।
प्रश्न एक निष्प्रभ था
कोणक की आँखों में
उत्तर की आशा थी
पहले ही खो चुकी!

आँखों में भिक्षु की
कठोर वर्त्तमान था

कोणक की आँखों में
जलता अतीत था
और वर्तमान था
आँखों से भिक्षु की
उसको निहारता !

आँखों में भिक्षु की
परिणति थी नाचती
जीत आँक रक्त - भरी
चूनर की चमचम में
कोणक की आँखों में
करुणा थी भींगती
जिस प्रकार ग्रीषम को
भींगती विभावरी !

खोया - सा, मूक - सा
डूबा - सा ध्यान में
कोणक निस्तब्ध रहा
एकटक निहारता
किंतु देवदत्त यों
बोल उठा उससे—
"आया है भिक्षु आज
मागध - सम्राट को
देने बधाइयाँ,
जय हो सम्राट की
बार - बार जय हो !
मेरा विश्वास है

मेरी ही वाणी यह
कल के इतिहास की
ज्योति बन जायगी
और पृष्ठभूमि में
जीत यही आज की
बैठेगी गर्विता !"

शब्दों से भिक्षु के
जाग उठा कोणक के
निर्निमेष नयनों में
विस्मय विवेक का
पूर्ण कोलाहल से
और एक भोली - सी
शंका के स्वर में
पूछ दिया उसने—
"कैसी वह जीत है
भिक्षु ! आप कहते हैं
जीत जिसे आज की ?
देख नहीं पाता हूँ
जीत कोई मैं तो।
धारण अब करता हूँ
राजमुकुट मैं ही
सत्य है, परन्तु, यह
बात हुई कल की
मागध - साम्राज्य अब
चरणों में लोटता,

किंतु बात यह भी है
कल की ही भिक्षुवर !
जीत नहीं आज की
कोई भी सामने ।
यह क्या मैं देखता
आँखों में आपकी ?
कैसी विचित्र ज्योति
बेसुध - सी झूमती ? —
सचमुच वह ज्योति है ?
अथवा है आग, या कि
ज्वाला है, लाल - लाल
लपटों - सी रक्त की
या कि एक ' ' यह क्या है —
भिक्षु ! क्यों इस प्रकार
आँखों में जादू का
खेल आप खेलते ?''

व्यंग्य किया भिक्षु ने —
''जादूगर कौन है,
मैं हूँ, या स्वप्न वह
जिसके संकेत पर
कोणक थे नाचते
जिसकी पुकार सुन
कोमल कुमार द्रुत
दौड़े उन्मत्त हो
जैसे है दौड़ता

नदियों का गर्व रौंद
गर्जनमय वेग से
झंझानिल उग्रतम।
जो कुछ भी सामने
आया, विध्वस्त हुआ।
एक ही विरोध था
पथ में कुमार के
वृद्ध, किंतु, ओज-भरा
जर्जर-सा, किंतु, पूर्ण
ज्वाला से तेज की
किंतु तेज कोणक के
भाग्य का प्रखरतर था
और वह विरोध भी
आज प्राण - हीन है
आज तप्तगृह में बस
बन्द एक शव है!"

कोणक की गर्व - भरी
आँखें इस भाँति खुलीं
मानों पलक एक
छूती हो अम्बर को
धरती से चिपकी हो
फैलकर दूसरी
और कढ़ी आती हों
लक्ष - लक्ष चीख - भरी
जलती चिनगारियाँ!

कोटर से आने को
बाहर थीं दीख रही
व्यग्र - सी पुतलियाँ !

प्रतिपल मस्तिष्क मे
कोणक के उठते थे
कितने विचार और
उसके उर - सिधु को
प्रतिपल थे मथते
किंतु देवदत्त के
व्यंग्यपूर्ण उत्तर ने
झोर, झकझोर दिया
नव - जात प्रेम को
प्रथम - प्रथम फूटा था
जो कि पुत्र - जन्म के
ऊर्म्मिल उल्लास से ।
गरज उठा वह अधीर
जैसे प्रचण्ड मेघ
गर्जन कर उठता है
निर्मम प्रभंजन के
तीव्र कशाघात से
व्याकुल हो, व्यग्र हो !

बोला वह—'कहते है
आप जो, असंभव वह;
बिम्बसार जो कुछ हों,
किंतु पिता पहले हैं,

आज पिता मैं भी हूँ,
तप्त-गृह आज नहीं
बाधक बन सकता है
उमड़े वात्सल्य के
करुणामय मार्ग में"

और बोल इतना ही
कोणक कुछ वेग से
बाहर की ओर बढ़ा।
देख उद्वेग यह
उसके मन - प्राण का
देवदत्त बोल उठा
अति कठोर स्वर में
जिसमें था अट्टहास
गूँज रहा व्यंग्य का
"बन्द तप्त - गृह में था
राजा, आदेश से
राजा के, सत्य यही।
आज बड़े भावुक - से
कोणक हैं दीखते!
भावुकता नारी है
सबको वह देखती
पुत्र, पिता, बन्धु और
भ्राता के रूप में।
कहता है किंतु सत्य
राजा को राजा ही।"

पैर रुके कोणक के
किंतु नहीं एक पल
मानों उपेक्षा का
क्रुद्ध भाव चलता हो
दम्भ को चुनौती दे
पथ पर आवेश के !

सोचा देवदत्त ने
कोणक का जाना भी
सत्य एक भारी है।
ग्रीषम की लपटों से
प्रबल बवंडर जो
तन झुलसाता है
फूलों का, कलियों का,
आह - भरी धरती का,
संध्या की साँस बन
देता है शांति वही
किंतु फिर पूर्ववत्
साथ सूर्योदय के
उग्र बन जाता है !
जाने दो कोणक को,
सारा भविष्य है
मुट्ठी में मेरी ही !

एकादश सर्ग

अम्बे ! जगदम्बे अयि !
करुणा तुम्हारी ही
शेष रहती है एक
ग्रीषम की सरिता - सी
जाती है सूख जब
करुणा मनुष्य की।
रहती है शेष एक
करुणा तुम्हारी ही
धरती जब धूल के
धूमिल इतिहास की
साँसों में देती है
चुपके - से बाँध हाय,
मानव के जीवन का
शून्य, ताप उसका !

मानव की करुणा का
दुःखद जब अंत हुआ
अंक में कठोरतम

क्रूर तप्तगृह के
करुणा तुम्हारी ही
करुणामयि ! शेष रही
कुशला के अश्रु में
उसके विषाद - जनित
शोक - तप्त मौन में ।

बैठी है सेवा की
गूँगी पुकार - सी
साथ इसी करुणा के
कुशला वैधव्य की
वाणी को रोक कर ।
शून्य शयन - कक्ष में
बैठी है भाग्य के
चरणों की ठोकर से
ध्वस्त हुई रेखा - सी
जिसके समीप हाय !
जाने में स्वप्न भी
जाने क्या बार - बार
सोचते विचारते ।

पूनम का चन्द्रमा
चाँदनी बिखेरता
किन्तु नहीं स्निग्ध कांति
रस है उड़ेलती !
पलकें हैं बन्द और
बद्ध कर दोनों हैं

पत्र - हीन आनन पर
छाई गंभीरता
मानों पतझार की
सन्ध्या के शून्य में
आरती जलाती हो
कोई निवेदिता
मानों प्रत्येक पल
घुल - घुलकर अग्नि में
बनती नीहार हो
चिंता की यामिनी !

पत्नी नरेश को
कुशला न आज है
आज वह माता है
माता ही केवल है।
स्मृति के उदास और
निर्जन प्रदेश में
आज पत्नीत्व धूलि-
कण है बटोरता
और मातृत्व रहा
झाँक उन्हीं आँखों से
जिनमें अमर्ष था
कौंध उठा एक दिन !

अकस्मात् कोणक ने
कक्ष में प्रवेश किया
और देख माता को

एक ओर उन्मन - सी
चरणों में लोट गया
दौड़ बड़े वेग से।
कुशला अचंभित - सी
मौन रही पूर्ववत्
किंतु जब कोणक के
आँसू से भींग गये
पाँव तब नेत्र लगे
उसके भी रोने !

माता के अश्रु थे
मस्तक पर पुत्र के
बार - बार गिरते
आँसू थे पुत्र के
करुणामय मातृ - पद
धोते विभोर हो
माता के अश्रु में
बहता वैधव्य था
साथ - साथ बहती थी
धार वात्सल्य की
आँसू में पुत्र के
प्रश्न यही बार - बार
उठता था ज्वार - सा
"प्यार पिता करते थे
हाय, मुझे कितना ?"

पत्थर की प्रतिमा - सी
बैठी थी कुशला
चरणों में कोणक था
विह्वल हो लोटता
मानों सजल नेत्र
बैठी तपस्या हो,
चरणों में नत - सिर हो
दंभ कुम्हलाया - सा
मानों गंभीर - सी
मौन क्षमा बैठी हो
सम्मुख हो द्रोह खड़ा
बेसुध - सा, हारा - सा
मानों सौन्दर्यमयी
सन्ध्या चुपचाप हो
सूर्य झुका लज्जा की
लाली से भीगकर
मनस्ताप धोता हो
आँसू की धार से !

आँसू की भाषा में
आँसू जब बोल चुके
आहों ने आहों का
जान लिया मर्म जब
प्रश्न जब मौन का
उत्तर में मौन के
व्याकुल विभोर हो
हेर चुका अपने में

करुणा की ज्योति को
बोल उठा कोणक तब
प्रश्न के झकोर में—
"एक बार कह दो मा !
प्यार पिता करते थे
हाय, मुझे कितना ?
मेरी निठुराइयाँ
सम्मुख तुम्हारे हैं
अब भी बिखेरतीं
सौ - सौ चिनगारियाँ
बार - बार देखकर
मेरे औद्धत्य के
काले कलंक को
काँप - काँप उठतीं तुम
लौ - समान दीपक की,
किंतु एक बार कहो
प्यार पिता करते थे
हाय, मुझे कितना ?
निश्चय ही प्रलयाग्नि—
दीपित तुम्हारे दृग
लपटों में चाहते
भस्म मुझे करना
कारण भी ज्ञात मुझे,
किंतु देवि ! तुम तो हो
स्नेह - मूर्ति मंगल की
एक बार आज कहो

प्यार पिता करते थे
हाय, मुझे कितना ?''

कातरता पुत्र की
सह न सकी कुशला
अंचल के दूध की
सुन पुकार बार-बार
द्रवित हुई, अपने को
रोक नहीं पाई वह।
अकस्मात् हाथ उठे
और लगे प्यार से
कोणक की देह को
सुख से सहलाने।
होठों पर कोणक के
गूँज उठा प्रश्न वही
''एक बार कह दो मा !
कह दो बस एक बार
प्यार पिता करते थे
हाय, मुझे कितना ?

भावों से भाव लगे
प्रतिपल टकराने,
भीषण संघर्ष था,
कुशला अधीर थी
मन के प्राचीर सब
हिलते थे, जिस प्रकार
हिलती तूफान में

भग्न कुटी फूस की।
सारा अतीत था
अपना अंगार ले
मिटता - सा दीखता !

सूने आकाश में
ममता का चन्द्रमा
प्रगट हुआ फिर से
और ज्वार उसका
कुशला के मौन की
बीन लगा छेड़ने
माता के कंठ से
फूटी तब रागिणी—

"प्यार पिता करते थे
और प्यार उनका था
अपने - सा, विश्व में
उसकी न पाई मिल
कोई भी उपमा !
सत्य है कि मैं हूँ मा
किन्तु मगधराज का
पुत्र - प्रेम जननी की
ममता से भारी था
वस्तुतः असीम था
पुत्र - प्रेम उनका।

"तुम अजातशत्रु हो
जनमे हो बनने को

क्रूर पितृहन्ता
उनको भविष्य की
बात यह ज्ञात थी
फिर भी न प्रेम घटा
हाय, एक कण भी।
भीषण प्रवृत्ति यही
हिंसक तुम्हारी जब
प्यास बनी गर्भ की
अपने शरीर का
रक्त मुझे पीने को
भूप ने सहर्ष दिया
कितना महान था
पुत्र - प्रेम उनका ?

"कहती हूँ सत्य मैं
इच्छा न मेरी थी
धरती पर छाँह पड़े
एक पल तुम्हारी
किन्तु मगधराज के
हठ की ही जीत हुई
हार गया निश्चय
प्रत्येक बार मेरा !
कहते थे—अपना ही
रक्त - मांस कोणक है
अपना ही प्राण है
उसके शरीर में,
सब प्रकार प्यारा है।

ज्योतिष की बात तो
होती है गल्प ही।
कोणक तो शोभा है
गौरव है, गर्व है
सारे मगध का।
कहते थे बार - बार
पुलकाकुल स्वर में।"

कंठ अवरुद्ध हुआ
और रुकी कुशला;
किन्तु रोक भावों के
बढ़ते प्रवेग को
बोली वह—"दृश्य ही
बदल गया सारा।
तुमने उठाया जो खड्ग
आज उसका
सम्मुख परिणाम है।
जननी तुम्हारी हूँ;
यद्यपि सुहाग - धन
तुमने नृशंस - सा
लूट लिया मेरा
देती तथापि मैं
ममता का स्नेह ही
बार - बार तुमको।
निर्णय इतिहास का
जाने इतिहास ही।

"बीच जिस कलंक की
कालिख के आज तुम
लज्जित - से दीखते
उसके आधार मे
स्वार्थ - नीति काली है
राजनीति कहता है
देवदत्त जिसको।
स्वार्थ - नीति मदिरा है
लहरों पर जिसकी
सर्वनाश खेलता
जैसे है खेलता
ध्वंस साथ विष के।
छलना है, करती है
प्यार कुविचार से
मत्सर से, द्वेष से
कण-कण में घोर घृणा-
भाव वह भरती है
बोती है कुत्सा के
बीज घूम - घूम कर
हिंसा - प्रवृत्ति को
प्रतिपल उभाड़ती
साथ लिए रहती है
प्रतिपल अमंगल ही
और शरण देती है
रौरव को मन में।
"सत्ता ही सब - कुछ है
ऐसा तो स्वार्थ - जनित

भावों के दास ही
मन में हैं सोचते।
सत्ता से श्रेष्ठ है
विश्व में मनुष्यता
जिसके स्वरूप की
शोभा पर रीझ कर
गौतम के नेत्र हैं
करुणा को देखते
जन - जन के नेत्र में।
सत्ता का मोह नहीं
जीवन - भर छूटता
किंतु ज्ञान जीवन को
अपने में लीन कर
अपने प्रकाश से
जीवन को पूर्ण कर
लिखता जो सत्य है
पूज्य वही मानव का।

"वत्स! सुनो, छोड़ो अब
घातक संकीर्णता
और चलो गौतम के
पुण्य - प्रेम - पथ पर
संघबद्ध होकर
एक यही मार्ग है
और इसी मार्ग में
मिलता कल्याण है।
रक्त मगधराज का

पुत्र - प्रेम अब भी
जिसमें है बोलता
कहता पुकार कर—
वत्स, यही मार्ग है
प्यार करो इसको।"

इतना जब बोल कर
मौन हुई कुशला
कोणक ने धीरे - से
शोश तब उठाया
किंतु नही माता की
ओर एक बार भी
दृष्टि उठी उसकी
आँखे थी सावन के
नीर - भरे शून्य - सी
और वह लगता था
तेज - हीन दीपक - सा !

ठहरा वह एक पल
और फिर बाहर की
ओर बढ़े उसके
पैर डगमग - से

बाहर सब ओर थी
छाँह देवदत्त की
और उस छाँह में
तप्तगृह रोता था
रोता है जिस प्रकार
खँड़हर इतिहास का !